



उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAPH-109

धर्म दर्शन

खण्ड-01 धर्म दर्शन का स्वरूप

इकाई-01 धर्मदर्शन की परिभाषा एवं स्वरूप	5-9
इकाई-02 धर्म एवं नैतिकता	10-14

खण्ड-02 धार्मिक विश्वास के आधार

इकाई-3 आस्था	16-20
इकाई-4 तर्क	21-25
इकाई-5 दैवी प्रकाशना	26-28
इकाई-6 रहस्यानुभूति	29-33

खण्ड-03 ईश्वर का स्वरूप

इकाई-7 निमित्तेश्वरवाद	35-38
इकाई-8 सर्वेश्वरवाद	39-42
इकाई-9 ईश्वरवाद	43-45

खण्ड-04 ईश्वर के अस्तित्व हेतु युक्तियाँ

इकाई-10 सत्ता मूलक युक्ति	48-52
इकाई-11 विश्वमूलक युक्ति,	53-59
इकाई-12 प्रयोजनमूलक युक्ति	60-66
इकाई-13 नैतिक युक्ति	67-72
इकाई-14 धार्मिक अनुभूति सम्बन्धी युक्ति	73-77

खण्ड-05 परम्परागत समस्या

इकाई-15 अशुभ की समस्या	79-83
इकाई-16 आत्मा की अमरता	84-89

[k.M&06 u; vk;ke

इकाई-17 धार्मिक भाषा	91-94
इकाई-18 धर्म निरपेक्षता	95-99
इकाई-19 ईश्वर विहीन धर्म	100-104

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश प्रयागराज

MAPH-109 धर्म दर्शन

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रो० सत्यकाम

कुलपति

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

प्रो. सत्यपाल तिवारी

उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो. जटाशंकर (सेवानिवृत्त)

दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

प्रो. ऋषिकान्त पाण्डेय

दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

प्रो. हरिशंकर उपाध्याय

दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

प्रो. दीपनारायण यादव

दर्शनशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डॉ. अतुल कुमार मिश्र

असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि., प्रयागराज

सम्पादक

डॉ. राजेश कुमार तिवारी

एसो. प्रोफेसर, नेहरू ग्राम भारतीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज

परिभाषक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र

असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि., प्रयागराज

लेखक

डॉ. प्रबुद्ध मिश्रा

एसो. प्रोफेसर, नेहरू ग्राम भारतीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ. अतुल कुमार मिश्र

असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि., प्रयागराज

डॉ. श्याम कान्त

आर्य कन्या डिग्री कालेज इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र

असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि., प्रयागराज

प्रकाशक

प्रथम मुद्रण – सितम्बर 2024

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

ISBN-978-93-48270-66-9

प्रस्तुत पाठ्य सामग्री में विषय से सम्बन्धित सभी तथ्य एवं विचार मौलिक रूप से लेखक के द्वारा स्वयं उपलब्ध कराई गई है। विश्वविद्यालय, इस सामग्री के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार से उत्तरदायी नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज सर्वाधिकार सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

प्रकाशन : उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रकाशक : विनय कुमार, कुलसचिव प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज 2025.

end % flXu1 bUQke'ku lY;lu ik0fy0] yk<k l|ihel lkdh fogkj jkM] vU/kjh bLV] eEcba

खंड परिचय

प्रस्तुत खंड में हम धर्म, धर्म शास्त्र, धर्म दर्शन, में तुलना का अध्ययन करेंगे। धर्म वह सर्वव्यापक अभिवृत्ति है जो अलौकिक, आदर्शपूर्ण विषय के प्रति आस्था पर आधारित होती है एवं जिसके प्रति आत्मबन्धन एवं बचनबद्धता, उपासना तथा किसी पद्धति के द्वारा अभिव्यक्त एवं दृढ़ होती है।

धर्म के विषय में चिन्तन, चर्चा या विचार विमर्श को ईश्वर मीमांसा या धर्मशास्त्र कहा जाता है। धर्म का दार्शनिक पद्धति से विवेचन की ही धर्म दर्शन कहलाता है। हम इस खंड में धर्म एवं नैतिकता में सम्बन्ध का अध्ययन करेंगे जैसे कि क्या धर्म नैतिकता का अभिन्न अंग है, क्या धर्म और नैतिकता एक दूसरे के पूरक है?

हम विभिन्न धर्म की समझ के आधार पर आगे बढ़ते हुए ईश्वर विहीन धर्म की संभावनाओं का परीक्षण करेंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि क्या वास्तव में समाज में ईश्वर विहीन धर्म स्थापित हो सकता है? वह किस सीमा तक सफल हो सकता है? और ईश्वर विहीन धर्म की किस प्रकार से हमारे समाज में उपयोगिता है? क्या ईश्वर विहीन धर्म एक प्रचलित धर्म के रूप में स्थापित हो सकता है? क्या वर्तमान में कुछ ईश्वर विहीन धर्म वास्तव में प्रचलित हैं? ईश्वर विहीन धर्म की प्रकृति क्या है? इन धर्मों की कमियां क्या हैं? इत्यादि।

इकाई-1 धर्मदर्शन की परिभाषा एवं स्वरूप

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 धर्म
- 1.3 धर्म शास्त्र
- 1.4 धर्म दर्शन
- 1.5 धर्मशास्त्र एवं धर्मदर्शन में तुलना
- 1.6 सारांश
- 1.7 बोध प्रश्न
- 1.8 उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

धर्म मानवीय जीवन से अत्यंत गहराई से जुड़ा हुआ है। हर व्यक्ति या यूं कहें कि समाज में रहने वाला हर व्यक्ति कहीं ना कहीं धर्म से संबंधित है। धर्म शब्द के अभिप्राय को समझे बिना भी कहीं न कहीं हम इसका प्रयोग करते रहते हैं और विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों परंपराओं क्रिया-कलापों इत्यादि का प्रयोग करते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म की प्रकृति क्या है? धर्मशास्त्र क्या होता है? धर्मशास्त्र अन्य शास्त्रों से कैसे अलग है? धर्म और धर्मशास्त्र में क्या संबंध होता है? और धर्म- दर्शन क्या है? धर्म-दर्शन धर्म और धर्मशास्त्र से किस प्रकार पृथक है या संबंधित है? क्या धर्म एक मनोदशा या अभिवृत्ति है? या कोई पूजा पद्धति अथवा क्रियाकलाप है? इत्यादि संप्रत्ययों को हम समझने का प्रयास करेंगे।

1.1 प्रस्तावना

मानव का आदि काल से ही धर्म से अटूट सम्बन्ध रहा है। आज तक मानवीय संस्कृति एवं सभ्यता को एक मौलिक स्वरूप प्रदान करने में सर्वाधिक प्रभावशाली भूमिका धर्म ने निभाई है। सामान्य अर्थ में धर्म मनुष्य मनुष्य की वह व्यापक अभिवृत्ति है जो उसके सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करती है और किसी दैवीय या अति प्राकृतिक सत्ता में उसके विश्वास के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।

वस्तुतः धर्म के व्यापक स्वरूप के सम्बन्ध में किसी एक परिभाषा के माध्यम से धर्म को स्पष्ट को स्पष्ट करना कठिन कार्य है। क्योंकि समय और क्षेत्र के अनुरूप धर्म की अलग-अलग परिभाषाएं प्रस्तुत की जाती रही हैं। जेम्स एच ल्यूबा ने अपनी पुस्तक "A Psychological Study of Religion" में धर्मों की 50 से अधिक परिभाषाओं को उल्लेख किया है। इसलिए धर्म की एक सार्वभौम परिभाषा के बजाए हम उसे मूल तत्वों के माध्यम से स्पष्ट कर सकते हैं।

1.2 धर्म

यदि हम व्यापक रूप से धर्म के स्वरूप को व्याख्यायित करें तो कुछ सामान्य तत्व हमें प्रत्येक धर्म में परिलक्षित होते हैं। उन मूल तत्वों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि धर्म मानव जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करने वाली वह व्यापक अभिवृत्ति है जो सर्वाधिक मूल्यवान, पवित्र, सर्वत्र तथा शक्तिशाली समझे जाने वाले आदर्श और अलौकिक उपास्य विषय के प्रति अखण्ड आस्था एवं पूर्ण प्रतिबद्धता के फलस्वरूप उत्पन्न होती है जो मनुष्य के दैनिक आचरण, तथा प्रार्थना, पूजा, पाठ आदि वाह्य कर्मकाण्ड में अभिव्यक्त होती है।

समकालीन धर्म दार्शनिकों द्वारा भी धर्म को नए रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। उनके अनुसार किसी निष्ठा के विषय के प्रति सम्पूर्ण आत्म बन्धन के आधार पर जीवन की समस्याओं की ओर सर्वव्यापक रीति से जो व्यक्ति को उन्मुख करे उसे धर्म कहा जा सकता है। एरिक फ्रॉम एवं क्रैनिंक ब्लैक स्टोन आदि धर्म दार्शनिक उपर्युक्त परिभाषा से सहमत हैं। इस परिभाषा में किसी अतीन्द्रिय, अतिप्राकृत या अलौकिक सत्ता का उल्लेख नहीं किया गया है। यहां निष्ठा का विषय सदैव कोई आदर्श व्यक्ति या सिद्धांत हो सकता है। यह परिभाषा से मानवतावादी धर्म का प्रतिनिधित्व भी हो जाता है।

अन्ततः व्यापक अर्थ में कह सकते हैं कि धर्म वह सर्वव्यापक अभिवृत्ति है जो अलौकिक, आदर्शपूर्ण विषय के प्रति आस्था पर आधारित होती है एवं जिसके प्रति आत्मबन्धन एवं बचनबद्धता, उपासना तथा किसी पद्धति के द्वारा अभिव्यक्त एवं दृढ़ होती है।

जहां तक प्रश्न है शाब्दिक परिभाषा का हमें भारतीय एवं पाश्चात्य सन्दर्भ में अलग-अलग दृष्टिकोण मिलते हैं। भारतीय परम्परा में धर्म शब्द की उत्पत्ति 'धि' नामक धातु से हुई है जिसका तात्पर्य धारण करना है। महाभारत में कहा गया है कि 'जो लोक को धारण करे वह धर्म है। अर्थात् धर्म वह है जो सम्पूर्ण समाज को संगठित रखता है। महर्षि कणाद के अनुसार धर्म वह है जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति में सहायक है। इसके अतिरिक्त धर्म के लिए अंग्रेजी भाषा में Religion शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसकी उत्पत्ति लैटिन भाषा के रिलिजियर शब्द से हुई है। लैटिन में इसका अर्थ बांधना होता है। इस प्रकार रिलीजन वह है जो मनुष्य तथा ईश्वर में सम्बन्ध स्थापित करता है और मनुष्यों को परस्पर संगठित करता था बांधता है।

स्पष्ट है कि त्मसपहपवद शब्द का अर्थ संस्कृत के धर्म शब्द से अर्थ से भिन्न नहीं है। दोनों शब्दों का मूल अर्थ मनुष्यों को परस्पर बांधना या संगठित करना ही है। अर्थ मनुष्यों को परस्पर बांधना या संगठित करना ही है। इस दृष्टि से धर्म या रेलिजन सम्पूर्ण मानव समाज में एकता तथा संगठन स्थापित करने का साधन कहा जा सकता है।

धर्म के अभिप्राय को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने धर्म के विभिन्न पक्षों का उल्लेख किया है क्योंकि मनुष्य की व्यक्तिगत मनोदशा या अभिवृत्ति होने के साथ-साथ धर्म एक सामाजिक संस्था अथवा संगठन के रूप में भी प्राचीन काल से मानव जीवन को प्रभावित करता रहा है। पाश्चात्य चिंतक जैशिया रायस के अनुसार व्यावहारिक भावनात्मक एवं सैद्धान्तिक रूप से धर्म के तीन पक्ष सम्भव हैं। सामान्यतः धर्म हमें प्रेरणा देता है। हमें आगे बढ़ने का रास्ता दिखाता है, साथ ही हमारे भीतर आस्था उत्पन्न करके धर्म के अनुकूल आचरण करने की शिक्षा देता है। इसी परिप्रेक्ष्य में हम कह सकते हैं कि धर्म का सम्बन्ध उच्चादर्शों एवं नैतिक मूल्यों से है। विश्व में ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जो नीतिविरोध आचरण की शिक्षा देता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सैद्धान्तिक रूप से धर्म मूल्यों आदर्शों एवं सिद्धांतों की स्थापना करता है एवं भावनात्मक रूप से मनुष्य में आस्था का संचार करता है। साथ ही यह क्रियात्मक या व्यावहारिक रूप से धर्मानुकूल आचार पद्धति को अपनाने की प्रेरणा देता है। धर्म मनुष्य के नैतिक आध्यात्मिक उन्नयन के लिए मार्गदर्शन भी करता है।

1.3 धर्म शास्त्र

धर्म के विषय में चिन्तन चर्चा या विचार विमर्श को ईश्वर मीमांसा या धर्मशास्त्र कहा जाता है। दूसरे शब्दों में धार्मिक व्यक्ति जब अपने धर्म के गूढ़ विषयों पर चिन्तन और मनन करने लगता है तो उसे धर्मशास्त्री की संज्ञा दी जाती है। धर्म मीमांसा के शाब्दिक अर्थ पर विचार करें तो अंग्रेजी में इसका समानार्थक शब्द theology है जिसकी उत्पत्ति theos शब्द से हुई है जिसका अर्थ ईश्वर होता है। इसलिए धर्मशास्त्र को ईश्वर विज्ञान या ईश्वरमीमांसा कहा जाता है। किन्तु कुछ धर्म ऐसे भी हैं जो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते इसलिए धर्म विषयक चिन्तन को ईश्वर विज्ञान के स्थान पर धर्म मीमांसा कहना अधिक समीचीन है। इसलिए धर्मशास्त्र को व्याख्यायित करते हुए कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्र वह विधा है जो किसी विशेष धर्म के मूल सिद्धांतों, मान्यताओं, पूजा पद्धतियों और विश्वासों को व्यवस्थित और सुसंगत व्याख्या करने का प्रयास करती है। यह परिभाषा ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी दोनों ही धर्मों का प्रतिनिधित्व करती है। धर्मशास्त्र में किसी विशेष धर्म से संबंधित धार्मिक सिद्धांतों की व्याख्या एवं विवेचना रहती है।

वस्तुतः देखा जाय तो धर्मशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य किसी धर्म के बारे में व्याप्त मिथ्या धारणा एवं भ्रम का निराकरण करना होता है। साथ ही यह दिखाना भी होता है कि उस धर्म के मूल सिद्धांतों एवं विश्वासों में कोई तार्किक असंगति नहीं है चूंकि धर्मशास्त्र का प्रमुख आधार आस्था होती है इसलिए धर्मशास्त्र में धार्मिक सिद्धांतों के प्रति संदेह नहीं किया जाता है बल्कि विभिन्न धार्मिक मान्यताओं के पारस्परिक सुसंगत सम्बन्ध को प्रदर्शित करने का प्रयास होता है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि धर्म शास्त्र का कार्य धार्मिक सिद्धांतों की परीक्षा या मूल्यांकन करना नहीं है बल्कि किसी विशेष धर्म के विषय में विचार विमर्श और उसके विरुद्ध उठायी जाने वाली आपत्तियों का निराकरण करना है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में धर्मशास्त्री उस धर्म के प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित मानकर चर्चा करते हैं।

1.4 धर्म दर्शन

धर्म का दार्शनिक पद्धति से विवेचन ही धर्म दर्शन कहलाता है। धर्म दर्शन को परिभाषित करते हुए प्रो० ब्राइट मैन ने कहा है कि धर्म-दर्शन धर्म की बौद्धिक व्याख्या करने का प्रयास है। यह धर्म का सम्बन्ध अन्य अनुभूतियों से बताकर धार्मिक मनोवृत्तियों एवं आधारों का मूल्य स्पष्ट करता है। प्रो० राइट के शब्दों में धर्म दर्शन धर्म की सत्यता तथा धर्म के व्यवहारों तथा विश्वासों की मूल विशेषताओं का सम्पूर्ण दृष्टि से विवेचन करता है। प्रो० एडवर्ड के अनुसार धर्म दर्शन धार्मिक अनुभूतियों के स्वरूप, व्यापार, मूल्य तथा सत्यता की दार्शनिक खोज है। स्पष्ट है कि धर्म दर्शन सुव्यवस्थित रूप से धर्म से सम्बन्धित समस्याओं, मान्यताओं, सिद्धांतों एवं विश्वासों का तर्कसंगत अध्ययन कर मूल्यांकन करता है।

मानव का आदिकाल से ही धर्म से अटूट सम्बन्ध रहा है। चूंकि धर्म का सम्बन्ध दर्शन से अत्यधिक निकट है इसलिए दर्शन में धर्म के तात्त्विक, नैतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष का अध्ययन किया गया है। देखा जाय तो धर्म एवं दर्शन एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। धर्म का उद्भव श्रद्धायुक्त भय और आश्चर्य से हुआ है जबकि दर्शन की उत्पत्ति भी आश्चर्य से मानी गयी है।

उपर्युक्त समानता के बावजूद अन्तर यह है कि धर्म आश्चर्य की व्याख्या करने के बजाय श्रद्धा पर आधारित पूजा-पाठ इत्यादि क्रियायें करता है जबकि दर्शन आश्चर्य की बौद्धिक व्याख्या निष्पक्ष रूप से करता है इसलिए हम कह सकते हैं कि धार्मिक, भावना धार्मिक क्रिया एवं धार्मिक चेतना में निहित तत्वों की मीमांसा ही धर्म दर्शन है। अतः धर्मदर्शन धर्म के अध्ययन की एक विधि है जिसमें धर्म का दार्शनिक दृष्टि से तार्किक एवं बौद्धिक विवेचन किया जाता है।

धर्म दर्शन उन सभी अन्धविश्वासों की आलोचना करता है जिसके कारण धर्म के विभिन्न पक्षों में अतार्किकता एवं विसंगतियां आती हैं। धर्म दार्शनिक धर्म की सत्यता तथा धर्म के व्यवहारों एवं विश्वासों के मूल मान्यताओं पर सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि से विचार करते हैं एवं धर्म का सम्बन्ध मूल तत्व से सुनिश्चित करते हैं।

धर्म दर्शन केवल धार्मिक सिद्धांतों का विश्लेषण नहीं करता बल्कि धार्मिक अनुभूतियों के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक सामाजिक एवं ऐतिहासिक पद्धतियों का भी तुलनात्मक अध्ययन करता है। अन्ततः कह सकते हैं कि स्वतंत्र रूप से तर्क बुद्धि को एकमात्र ज्ञान की कसौटी मानकर धर्म की विवेचना करना ही धर्म दर्शन है।

जहां तक प्रश्न है धर्म दर्शन के स्वरूप का तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि धर्मदर्शन उन सभी विषयों का विवेचन करता है जिनका मनुष्य के धार्मिक जीवन से सम्बन्ध है तथा जिनपर तर्क संगत रूप से विचार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ धर्म का स्वरूप, मूल्य, धर्म का विकास, धर्म से सम्बन्धित तथा जिनपर तर्क संगत रूप से विचार किया जा सकता है। उदाहरणार्थ धर्म का स्वरूप, मूल्य, धर्म का विकास, धर्म से सम्बन्धित अनुभूतियां, कर्मकाण्ड, मान्यताएं, विश्वास, संस्थाएं आदि धर्म दर्शन के क्षेत्र में आते हैं। इस प्रकार धार्मिक जीवन से सम्बन्धित सभी पक्ष पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से धर्म दर्शन की विषय वस्तु है।

1.5 धर्मशास्त्र एवं धर्मदर्शन में तुलना

धर्म दर्शन एवं धर्मशास्त्र में महत्वपूर्ण अन्तर विषय वस्तु एवं दृष्टिकोण से सम्बन्धित है। धर्म शास्त्र का क्षेत्र एवं विषयवस्तु अत्यन्त सीमित है और इसका दृष्टिकोण संकुचित होता है क्योंकि धर्मशास्त्र सदैव किसी धर्म विशेष

का ही शास्त्रीय अध्ययन करता है। उदाहरण स्वरूप हम बौद्ध धर्म शास्त्र एवं इस्लाम धर्मशास्त्र को ले सकते हैं। इसके विपरीत धर्म दर्शन किसी विशिष्ट धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक परम्परा पर आधारित नहीं है। यह किसी धर्म विशेष की अपेक्षा धर्म के सामान्य अर्थ, उत्पत्ति, विकास एवं मूल्य का निश्चय करने की चेष्टा करता है।

धर्म दर्शन का प्रमुख कार्य धर्म के वास्तविक स्वरूप का पता लगाना है। यह धर्म से सम्बन्धित मानवीय अनुभूतियों के सभी पक्षों का अध्ययन करता है किन्तु धर्मशास्त्र अपने विशेष धर्म से सम्बन्धित सिद्धांतों एवं अनुभूतियों का भी वर्णन करता है अथवा व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करता है इसलिए धर्मशास्त्र की अपेक्षा धर्म दर्शन का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। दोनों ही धर्म से संबंधित तत्त्वों, विषयों पर विचार करते हैं तथापि इनके अध्ययन की विधि एवं लक्ष्य में अत्यधिक असमानता है।

विधि एवं लक्ष्य पर आधारित असमानता में प्रमुख आधार स्रोत है। धर्मशास्त्र में श्रुति, परम्परा, श्रद्धा, पूजा आदि धार्मिक ज्ञान के उच्चतम स्रोत माने जाते हैं। जबकि धर्म दर्शन में तर्क की कसौटी पर परीक्षण किए बिना किसी भी मान्यता को स्वीकार नहीं किया जाता। तर्क के अतिरिक्त किसी अन्य मान्यता को धर्म दर्शन में स्थान नहीं दिया जाता।

धर्मशास्त्र के अनुसार बुद्धि ज्ञान प्राप्ति का साधन मात्र है साध्य नहीं। श्रुति एवं दैवी प्रकाशना द्वारा प्राप्त धार्मिक सत्य का विवेचन एवं प्रतिपादन बुद्धि का मुख्य कार्य है किन्तु धर्म दर्शन में बुद्धि सर्वोपरि है। इसमें भावना आदि से नियंत्रित व सीमित न होकर बुद्धि पूर्णतया स्वतंत्र होती है। धार्मिक मान्यताओं का बौद्धिक विवेचन ही धर्म दर्शन का प्रधान कार्य है।

धर्मशास्त्री का दृष्टिकोण व्यवहारवादी एवं प्रयोजन वादी होता है। वह जिन धार्मिक सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है। वे उसके धार्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होते हैं। मानव मूल्यों के प्रति भी उसका दृष्टिकोण मूलतः प्रयोजनवादी ही होता है। किन्तु धर्म दार्शनिक न तो किसी धर्म या परम्परा विशेष के अनुयायियों के लाभ के लिए दार्शनिक विवेचन करता है और न वह किसी पारमार्थिक मूल्य इत्यादि के प्रति श्रद्धा ही रखता है वह धार्मिक सत्य व मूल्य का बौद्धिक विवेचन करने में पूर्ण स्वतंत्र हैं। धर्मशास्त्री ऐसा उपदेशक है जो कि अपनी धार्मिक मान्यताओं का तार्किक प्रतिपादन करता है, किन्तु धर्मदार्शनिक वह जिज्ञासु है जो बौद्धिक विवेचन द्वारा धार्मिक सत्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। धर्मशास्त्र में केवल एक धर्म का उपदेश या अध्ययन होता है जबकि धर्मदर्शन में जिज्ञासु सभी धर्मों के सामान्य तथ्य की खोज करता है।

धर्म दर्शन धर्मशास्त्र और दर्शन के बीच स्थित है वह दार्शनिक दृष्टि से धर्म की आलोचना करता है दूसरी ओर धर्मशास्त्रों से धर्म की सामग्री प्राप्त करता है जबकि धर्मशास्त्रों से धर्मशास्त्र अपनी सामग्री विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत ही प्राप्त करता है। उस विशिष्ट धर्म से परे जाना धर्मशास्त्र की सीमा में नहीं है।

समानता

उपर्युक्त विभिन्नताओं के बावजूद धर्मशास्त्र एवं धर्म दर्शन एक दूसरे के पूरक भी हैं। धर्म दर्शन धर्म का बौद्धिक विवेचन करता है और धर्मशास्त्र धार्मिक विषय-वस्तु के प्रति विश्वास व्यक्त करता है। मूल्य की दृष्टि से यदि धर्मशास्त्र विश्वास को प्रमुख आधार मानता है तो इससे किसी प्रकार की भी हानि नहीं होती। धर्म दर्शन धर्म की कितनी भी बौद्धिक विवेचना करे किन्तु उसे मूल्यों में विश्वास करना अनिवार्य होता है। इनके मत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सम्बन्ध आध्यात्मिकता का होता है। धर्म दार्शनिक आध्यात्मिकता को तर्क की कसौटी पर जीवन में स्थान देने का आग्रह करता है जबकि धर्मशास्त्र का आधार ही आध्यात्मिकता है।

1.6 सारांश

हम देखते हैं कि धर्मशास्त्र और धर्म- दर्शन में अनेक विभिन्नताएं हैं परंतु दोनों विरोधी नहीं कहा जा सकते दोनों धर्म से संबंधित हैं। तथापि दोनों के अलग-अलग उद्देश्य हैं। धर्मशास्त्र व धर्म दर्शन इन दोनों का ही संबंध बुद्धि व विश्वास से है परंतु धर्म दर्शन बुद्धि की ओर अधिक झुकाव रखता है जबकि धर्म दर्शन आस्था व विश्वास पर।

1.7 बोध प्रश्न

1. धर्म एवं धर्म दर्शन में क्या अंतर है?
2. धर्मशास्त्र एवं धर्म दर्शन में क्या अंतर है?

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्म दर्शन – डॉ याकूब मसीह ।
2. धर्म दर्शन की मूल समस्याएं– डॉ वेद प्रकाश वर्मा ।
3. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन– डॉ शिव भानु सिंह ।

इकाई-2 : धर्म एवं नैतिकता

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 धर्म एवं नैतिकता में सम्बन्ध
- 2.3 क्या धर्म नैतिकता का अभिन्न अंग है
- 2.4 समीक्षा
- 2.5 क्या धर्म और नैतिकता एक दूसरे के पूरक हैं?
- 2.6 समीक्षा
- 2.7 सारांश
- 2.8 बोध प्रश्न
- 2.9 उपयोगी पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई में नैतिकता के अर्थ तथा उसके स्वरूप की विस्तृत विवेचना की गयी है। साथ ही इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि धर्म एवं नैतिकता के सम्बन्ध पर भी विचार किया गया यद्यपि विभिन्न दार्शनिकों ने पूर्णतः भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से धर्म तथा नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या की है, तथापि उसका आलोचनात्मक मूल्यांकन भी किया गया है।

2.1 प्रस्तावना

मानव के सामाजिक जीवन को संचालित करने में धर्म तथा नैतिकता की भूमिका महत्वपूर्ण रही है विश्व में जो भी सांस्कृतिक एवं सामाजिक उत्थान दिखायी देता है, वह विकास धर्म तथा नैतिकता के बिना संभव नहीं है। यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग सामान्य प्रचलित अर्थ में ही है, अर्थात् धर्मशब्द का प्रयोग कर्तव्य या स्वकर्तव्य न होकर मनुष्य की वह व्यापक अभिवृत्ति है, जो उसके सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करती है। यह किसी दैवीय या अप्राकृतिक सत्ता से उसके विश्वास के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।

वस्तुतः धर्म मनुष्य के जीवन के बौद्धिक, संवेगात्मक एवं क्रियात्मक तीनों पक्षों को प्रभावित करता है। जहाँ तक प्रश्न है, नैतिकता की वह रीति-रिवाजों, मूल्यों एवं आदर्शों से सम्बन्धित वह सामाजिक व्यवस्था है, जिसका उद्देश्य मनुष्य के वैयक्तिक कल्याण एवं सामाजिक हित हैं समायोजन हेतु मनुष्य के आचरण के नियमन, नियन्त्रण, मूल्यों की स्थापना एवं मार्गदर्शन करना है। नैतिकता को मनुष्य सामाजिक दबाव अथवा स्वयं अपनी इच्छा के कारण स्वीकार करता है। सामान्यतया व्यावहारिक जीवन में नैतिकता के इसी स्वरूप को स्वीकार किया जाता है। स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था के रूप में नैतिकता मनुष्य के आचरण को नियमित करने के लिए कुछ नैतिक नियमों एवं मूल्यों को प्रस्तुत करती है, इस अर्थ में अनुभूति का संवेदनात्मक पक्ष तथा मानवीय आचरण को नियमित करने वाला तत्व धर्म में भी होता है। इसलिए धर्म तथा नैतिकता का सम्बन्ध घनिष्ठ है तथा नैतिकता और धर्म किसी न किसी रूप में मनुष्य के संवेदनात्मक या भावनात्मक पक्ष से जुड़े होने के साथ ही सामाजिक जीवन से भी सम्बन्धित है।

उपर्युक्त विवेचन पर समस्या उत्पन्न होती है कि यदि धर्म तथा नैतिकता दोनों का सम्बन्ध अटूट रूप से समाज में रहा है तो इस सम्बन्ध की व्याख्या किस प्रकार होती है?

भारतीय चिंतन में इसके अन्तर्गत विस्तृत एवं व्यवस्थित व्याख्या उपलब्ध नहीं होती क्योंकि अधिकतर

भारतीयों ने धर्म एवं नैतिकता में मूलभूत अन्तर स्वीकार नहीं किया है। यद्यपि पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन में इसकी विशद चर्चा मिलती है।

2.2 धर्म एवं नैतिकता में सम्बन्ध

धर्म एवं नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना मुख्य रूप से पाश्चात्य विचारकों ने की है क्योंकि जहाँ तक भारतीय चिंतकों का प्रश्न है, वे अधिकांशतया धर्म एवं नैतिकता में भेद नहीं करते। मनु ने धर्म के जिन दस लक्षणों का उल्लेख किया है। उससे यह तथ्य स्पष्ट होता है। वस्तुतः यदि धर्म को 'स्वकर्तव्य पालन के अर्थ में लिया जाय तो मनु का मत उचित ही लगता है। पाश्चात्य विचारधारा में जिन विचारकों ने इस सन्दर्भ में अपना मत प्रस्तुत किया है वे अधिकतर ऐसे विचारक हैं जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं। उन्होंने धर्म का अर्थ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक शाश्वत, दयालु तथा न्यायशील ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास के अर्थ में लिया है। ये विचारक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं तथा नैतिकता को पूर्णतया धर्म पर आधारित मानते हैं।¹

उनके अनुसार धर्म के अभाव में नैतिकता संभव नहीं है धर्म के कारण ही हम समस्त नैतिक मूल्यों, आदर्शों तथा नियमों को स्वीकार करते हैं। जो व्यक्ति धर्म में आस्था नहीं रखता उसके लिए उन नैतिक मूल्यों, आदर्शों तथा नियमों का कोई महत्व नहीं हो सकता। उन दार्शनिकों के मतों का निहितार्थ यह है कि धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति के जीवन में नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। धर्म को ही नैतिकता का दिशा निर्देशक माना जाता है। कुछ पश्चिमी विचारक नैतिक नियमों को ईश्वरीय आदेश मानते हैं, जिनका उल्लंघन संभव ही नहीं है। इसी मत के समर्थन में जे०ई० स्मिथ ने लिखा है कि ईसाई धर्म तथा यहूदी धर्म में इस बात को स्वीकार करने में मतैक्य है कि धर्म के बिना नैतिकता अंततः अनैतिकता है।... अंततः अच्छे जीवन के विषय में कोई भी विचार, मनुष्य को क्या करना चाहिए इस संबंध में कोई भी महत्वपूर्ण सिद्धान्त, मानव के अन्तिम लक्ष्य से सम्बंधित किसी विचार के बिना संभव नहीं है तथा यह विचार नैतिकता में धार्मिक तत्व का समावेश करता है। यह इस बात के सिद्ध करने के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाण है कि नैतिकता धर्म के साथ अनिवार्यता: सम्बन्ध है।

ऐसी नैतिकता जो अपने से ऊपर किसी सत्ता पर आधारित नहीं है अनिवार्यता: भ्रष्टाचार में लिप्त होती जाती है क्योंकि वह अपने उपदेशों से परे किसी निर्णायक को स्वीकार नहीं करती। परन्तु जो नैतिकता धार्मिक स्वरूप वाले ईश्वरीय प्रेम पर वास्तव में आधारित है तथा जो ईश्वर की शक्ति को निर्णायक रूप में स्वीकार करती है, वह सिद्धान्तता ऐसे भ्रष्टाचार से बची रहती है। धर्म पर आधारित न रहने वाली नैतिकता के पास आत्मालोचन का कोई सिद्धान्त नहीं होता क्योंकि इसके मूल में कोई विश्वासी अर्थात्— ईश्वरवरीय अथवा आध्यात्मिक सन्दर्भ नहीं होता जिसके द्वारा वह शासित हो सके और जो इसके विषय में निर्णय दे सके। यह एक सच्चाई है कि नैतिकता की विषयवस्तु को निर्धारित करने के अतिरिक्त धर्म इसका अन्तिम निर्णायक भी है धर्म नैतिक जीवन के लिए प्रेरणा देता है तथा इसके साथ ही इससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण वस्तु प्रदान करता है वह है नैतिक प्रयास की सार्थकता एवं उसका उद्देश्य, धार्मिक आस्था के साथ सजीव सम्बन्ध के अभाव में नैतिकता अनिश्चित एवं अपूर्ण ही बनी रहती है। जब यह धर्म पर आधारित नहीं होती, तो उसके नष्ट होने का भय निरंतर बना रहता है। स्मिथ के अतिरिक्त कार्ल वार्थ, ऐमिल ब्रुनर, रीनोल्ड नेबुर आदि दार्शनिक नैतिकता को धर्म पर आधारित मानते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो उपरोक्त धारणा उचित नहीं है क्योंकि सामान्य अर्थ में धर्म को स्वीकार किये बिना भी मनुष्य नैतिकता के अनुरूप आचरण कर सकता है। नैतिक आचरण के लिए धर्म की कोई आवश्यकता नहीं है। जो व्यक्ति किसी धर्म में आस्था नहीं रखता वह नैतिक हो सकता है क्योंकि उसका आचरण नैतिकता के प्रतिमानों के विपरीत है। एक धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति या अधार्मिक व्यक्ति या अनीश्वरवादी पूर्णतया नैतिक व्यक्ति हो सकता है, पुनः धर्म को नैतिकता का आधार मानने से यह भी कठिनाई उत्पन्न होती है कि प्रायः धर्म में जिस आध्यात्मिक या अतीन्द्रिय या अलौकिक परमसत्ता या सर्वोच्च मूल्य को स्वीकार किया जाता है, उनको प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने का प्रयास विवाद का विषय रहा है इस प्रकार यदि धर्म को नैतिकता का आधार माना

जाय तो धर्म की विसंगतियां या कमियां नैतिकता को भी प्रभावित करती है।

2.3 क्या धर्म नैतिकता का अभिन्न अंग है

धर्म तथा नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में उपरोक्त ईश्वरवादी मत के विरुद्ध लगायी गयी आपत्तियों को ध्यान में रखते हुए कुछ दार्शनिक ने नैतिकता को धर्म पर आधारित न मानकर स्वयं धर्म को ही नैतिकता का अभिन्न अंग मान लिया है। इन दार्शनिकों में मैथ्यू आनील्ड का नाम उल्लेखनीय है। उनके अनुसार धर्म संवेगों से सम्बन्धित नैतिकता है। इसी क्रम में हम ब्रेथवेट का नाम उद्धृत कर सकते हैं जिनके अनुसार धार्मिक कथन वास्तव में नैतिक कथनों से मूलतः भिन्न नहीं हैं क्योंकि दोनों का उद्देश्य एक ही है तथा वह है आचरण, नीति तथा जीवन पद्धति के विषय में वक्ता की प्रतिबद्धता को अभिव्यक्त करना। इस प्रकार उनके अनुसार धर्म वस्तुतः नैतिकता से स्वतंत्र न होकर उसी का एक अपरिहार्य भाग मात्र है। नैतिक मूल्यों आदर्शों अथवा नियमों के अभाव में धर्म की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

2.4 समीक्षा

उपरोक्त ब्रेथवेट का मत पूर्णतया सत्य न होकर आंशिक रूप से ही सत्य है। नैतिकता धर्म का निश्चित रूप से अनिवार्य अंग है तथा उसके अभाव में मानव जीवन के लिए धर्म का महत्व बहुत कम हो जाता है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि नैतिकता से भिन्न धर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं है। धर्म को नैतिकता का भाग नहीं माना जा सकता। धर्म में किसी आध्यात्मिक, अतिप्राकृतिक या अलौकिक सत्ता में निश्चित रूप से आस्था रखी जाती है जबकि इसका नैतिकता से कोई संबंध ही नहीं है। धर्म तथा नैतिकता एक दूसरे से निश्चित रूप से भिन्न हैं।

एच डी. लेविस के मत का समर्थन करते हुए हम कह सकते हैं कि वस्तुतः नैतिकता धर्म के लिए तथा धर्म नैतिकता के लिए समान रूप से अनिवार्य है— इन दोनों में कोई अंतर्विरोध नहीं है दोनों एक दूसरे से अनिवार्यतः सम्बद्ध हैं। लेविस का कथन है— यह माना जा सकता है कि धर्म तथा नैतिकता का एक दूसरे के लिए बहुत महत्व है। मैं इसी विचार का समर्थन करता हूँ— भूतकाल में मनुष्यों के जीवन में धर्म किसी न किसी रूप में प्रमुख तत्व रहा है। और यदि इसके दावे में कोई सार है तो हमें यह आशा करनी चाहिए कि यह हमारे आचरण पर बहुत अधिक तथा दूरगामी प्रभाव डालता रहेगा। इसी मत का समर्थन करने वाले विचारक नैतिकता एवं धर्म को एक दूसरे का पूरक मानते हैं। धर्म तथा नैतिकता के निकटतम सम्बन्ध को स्वीकार करने वाले दार्शनिक यह मानते हैं कि नीति शास्त्र के मान्य सिद्धान्त धर्म के भी मान्य सिद्धान्त हैं। नीति शास्त्र में ईश्वर की सत्ता, इच्छा की स्वतन्त्रता तथा आत्मा की अमरता को मुख्य पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार किया गया है तथा धर्म भी इन मान्यताओं को महत्वपूर्ण मानता है। दोनों ही सर्वोच्च मूल्य की धारणा में विश्वास करते हैं।

2.5 क्या धर्म और नैतिकता एक दूसरे के पूरक हैं?

उपर्युक्त विवेचनों के अतिरिक्त भी कुछ विचारकों ने धर्म तथा नैतिकता सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये। कुछ चिंतक धर्म तथा नैतिकता को एक दूसरे पर आधारित मानने के बजाये पृथक् पृथक् मानते हुए एक—दूसरे के पूरक के रूप में स्वीकार करते हैं।

धर्म तथा नैतिकता एक दूसरे की सहायता करते हैं अतः एक के अभाव में दूसरा अपूर्ण है। तात्पर्य है कि धर्म में निहित कमियों को, नैतिकता दूर करके उसे पूर्णतः प्रदान करती है जबकि नैतिकता को सहज बनाने में अथवा आदर्श के रूप में प्रस्तुत करने हेतु धर्म पूरक का कार्य करता है।

तात्पर्य है कि धर्म तथा नैतिकता एक दूसरे पर आश्रित मात्र नहीं हैं बल्कि नैतिकता धर्म को परिमार्जित करती है तथा इसाई धर्म के दस कमाण्डेमेंट तथा भारतीय चिंतन के पंचमात्र व्रत नैतिक नियमों के उदाहरण हैं। इस सन्दर्भ में 'एटकिंसन ली' कहते हैं कि नैतिकता धर्म की महान शोधक रही है इसने धर्म की समीक्षा करके उसे नैतिक बनाया है। उदाहरणार्थ ऋग्वैदिक काल में प्रचलित पशुबलि प्रथा में कमी आना।

धर्म तथा नैतिकता को एक दूसरे का पूरक मानने का समर्थन में महात्मा गांधी भी करते हैं, उनके अनुसार (यंग इंडिया) यह संभव ही नहीं है कि कोई क्रूर असत्यवादी तथा हिंसक प्रवृत्ति का हो तथा वह यह सोचे कि ईश्वर की कृपा उस पर होती है। गांधी जी सत्य का अनुशीलन तथा ईश्वर की प्राप्ति को समानार्थक मानते हैं। उनके अनुसार धर्म सत्य का निष्ठापूर्वक अनुशीलन है। ईश्वर ही सत्य है सत्य ही ईश्वर है। जिस प्रकार बीज जल से सिंचित होकर अंकुरित तथा पौधे के रूप में बढ़ता है उसी प्रकार नैतिकता भी धर्म से सिंचित होकर फलती-फूलती है।

2.6 समीक्षा

धर्म तथा नैतिकता के सम्बन्ध में यह मत पूर्णतरु युक्तिसंगत नहीं है। बिना धर्म के भी नैतिकता का पालन किया जा सकता है। मानव आचरण का मूल्यांकन नियमन एवं मार्गदर्शन, धर्म के अभाव में भी संभव है। धर्म परायण व्यक्ति धार्मिक क्रियाकलापों के पालन में नैतिकता का उल्लंघन करता है जबकि कभी कभी नैतिकता के पालन में धार्मिक सिद्धांतों की अवहेलना करनी पड़ती है। कुछ समीक्षक यहाँ तक कहते हैं कि यह एक दूसरे के पूरक होने के बजाय एक दूसरे के लिए हानिकारक है।

उपर्युक्त विकल्पों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि धर्म तथा नैतिकता न तो एक दूसरे पर आधारित हैं तथा न ही एक दूसरे के पूरक हैं। चिंतकों का यह भी मत है कि धर्म नैतिकता के लिए सहायक न होकर उसके लिए हानिकारक तथा बाधक है, क्योंकि यह परलोक तथा पलायनवाद को प्रश्रय देता है जबकि नैतिकता का मूल दृष्टिकोण इहलौकिक है। समाज के सदस्य के रूप में नैतिकता मूल कर्तव्यों को स्वेच्छा से पालन करने के लिए प्रोत्साहित करती है, जिससे व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण होता है।

इस प्रकार यह विकल्प धर्म निरपेक्षता का समर्थन करता है जिसकी मान्यता है कि नैतिकता धर्म से स्वायत्त। स्वतन्त्र भी है तथा पृथक् भी। नैतिक व्यवस्था तथा नैतिक नियमों का मूल स्रोत मानव समाज ही है कोई अलौकिक सत्ता नहीं। इसी सन्दर्भ में होलियोक एवं ब्रेडलाक द्वारा स्थापित धर्मनिरपेक्षतावादी सिद्धान्त ऐश्वर्य-विहीन नीतिकर्ता अथवा धर्म विहीन नैतिकता को स्वीकार करता है।

इसी सन्दर्भ में नीत्से ने कहा है कि— ईश्वर चुका है तथा सात्र मानते हैं कि ईश्वर का मर जाना ही बेहतर है। उनके अनुसार यदि ईश्वर नहीं है तो हमारे व्यवहार को वैध ठहराने के लिए कोई मूल्य या आदेश उपलब्ध नहीं होगा तथा मनुष्य स्वतन्त्र निर्णय लेते हुए उत्तरदायित्व वहन करेगा। फ्रायड के अनुसार यदि धर्म तथा नैतिकता को अलग नहीं किया गया तो धर्म के कम प्रचलित होने पर नैतिकता के समाप्त होने का संकट उत्पन्न होगा।

इस मत का समर्थन भारतीय परिप्रेक्ष्य में मानवेन्द्र नाथ राय व नेहरू जैसे मानवतावादी चिंतक करते हैं। मानवेन्द्र नाथ मानते हैं कि वैज्ञानिकता का विकास के साथ ही धर्म आधारित व्याख्याएं मानवीय जिज्ञासाओं के सन्दर्भ में अर्थहीन हो जायेगी, इसलिए नैतिकता का माप दण्ड धर्म को नहीं बनाया जा सकता तथा इस प्रकार की

नैतिकता वाह्य आरोपित एवं धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा देती है। नेहरू के अनुसार धर्म ग्रन्थ ईश्वर को आधार मानकर वैज्ञानिक खोज में अड़चन डालते हैं एवं समाज सुधार में भी बाधा उत्पन्न करते हैं। इसलिए सामाजिक कल्याण हेतु धर्म-निरपेक्ष नैतिकता ठीक है।

समीक्षा— उपरोक्त मत के पक्ष में आंशिक सत्यता अवश्य विद्यमान है किन्तु धर्म ने मनुष्य के स्वभाव में मानवीय सद्गुणों को उत्पन्न करने का अमूल्य प्रयास किया है। इस दृष्टि से धर्म ने नैतिकता को सहायता भी की है। समीक्षकों के अनुसार धर्म निरपेक्ष नैतिकता इस समस्या का समाधान नहीं कर पाती है कि व्यक्ति सदैव नैतिक क्यों रहता है? धार्मिक नैतिकता में व्यक्ति के दैवीय-क्रियाकलाप एक अन्तिम लक्ष्य से सम्बन्धित हो जाते हैं, जिसके सापेक्ष व्यक्ति अपने कर्मों का मूल्यांकन भी करता है। इसलिए काण्ट नैतिकता की पूर्व मान्यता के

रूप में ईश्वर के अस्तित्व तथा आत्मा की अमरता को स्वीकार करते हैं जिसका सम्बन्ध मूलतः धर्म से है।

2.7 सारांश

धर्म तथा नैतिकता के विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों में कुछ मूलभूत अन्तर अवश्य विद्यमान है कि दोनों में कुछ मूलभूत अन्तर अवश्य विद्यमान है, जिसका कारण धर्म एवं नैतिकता की मूल संकल्पना में अन्तर होना है।

धर्म का केन्द्र अलौकिक सत्ता के प्रति आस्था है, जबकि नैतिकता का केन्द्र मनुष्य है। अतः निष्कर्ष के रूप में यह कह सकते हैं कि सामान्य अर्थ में प्रचलित धर्म नैतिकता के लिए न तो अनिवार्य है न ही उसका आधार है फिर भी नैतिकता के बिना धर्म का अस्तित्व तो संभव है किन्तु नैतिकता से रहित धर्म, मानव जीवन में सक्रिय भूमिका नहीं निभा सकता है।

2.8 बोध प्रश्न

1. क्या धर्म के बिना नैतिकता संभव है ?विवेचना कीजिए।
2. क्या नैतिकता के बिना धर्म संभव है परीक्षण कीजिए।

2.9 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्म दर्शन – डॉ याकूब मसीह।
2. धर्म दर्शन की मूल समस्याएं– डॉ वेद प्रकाश वर्मा।
3. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन– डॉ शिव भानु सिंह।

खण्ड—2 धार्मिक विश्वास के आधार

खंड परिचय

प्रस्तुत खंड में हम आस्था के अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन करेंगे, अस्था एवं विश्वास, आस्था एवं ज्ञान faith and knowledge, आस्था की विशेषताएं आदि का अध्ययन करेंगे। आस्था के विषय, विज्ञान के विषयों की तरह तथ्यपरक या वस्तुपरक नहीं होते हैं। आस्था भावनामूलक है, इसमें अभिवृत्ति रहती है तथा इस अभिवृत्ति को युक्तियों के द्वारा समर्थित करना कठिन होता है सभी आस्था का विषय युक्तिपरक या यौक्तिक नहीं होते हैं।

हम धार्मिक विश्वास और तर्क बुद्धि के बीच के संबंध को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखेंगे। हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि कैसे विभिन्न दार्शनिक और धार्मिक परंपराओं ने इस संबंध को देखा है, और कैसे आधुनिक समय में यह विचार विकसित हुआ है। हम दैवी प्रकाशन का भी अध्ययन करेंगे। दैवी प्रकाशना धार्मिक विश्वास का महत्वपूर्ण आधार है। किसी अप्रकाशित विषय को प्रकाशित करना ही प्रकाशना है। धार्मिक क्षेत्र में सदैव - प्रकाशना का आशय उस माध्यम से है, जिसके द्वारा ईश्वर स्वयं मनुष्यों को अपने विषय में जानकारी देता है ताकि मानव जीवन में लाभ प्राप्त कर सके।

हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि रहस्यवाद क्या होता है? रहस्यवाद धार्मिक अनुभूति के रूप में किस प्रकार अतींद्रिय सत्ता का ज्ञान प्राप्त करता है। रहस्यवाद का धार्मिक क्षेत्र में क्या भूमिका है? भारतीय एवं पाश्चात्य रहस्यवाद का स्वरूप क्या है एवं रहस्यवाद की कमियां क्या हैं इत्यादि।

इकाई – 3 आस्था

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 अर्थ एवं परिभाषा
- 3.3 आस्था एवं विश्वास
- 3.4 आस्था एवं ज्ञान पिजी 'दक' दवूसमकहम
- 3.5 आस्था की विशेषताएं
- 3.6 प्रमाण
- 3.7 समीक्षा
- 3.8 सारांश
- 3.9 बोध— प्रश्न
- 3.10 उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई धार्मिक विश्वास के एक आधार के रूप में आस्था की विस्तृत चर्चा की गई है। इकाई में आस्था एवं विश्वास आस्था एवं ज्ञान के मध्य विभेद को भी स्पष्ट किया गया। इसके अतिरिक्त धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में आस्था कितनी सफल प्रतीत हुई है का भी आलोचनात्मक विवरण दिया गया है।

3.1 प्रस्तावना

धर्म संबंधी विश्वास को धार्मिक विश्वास के रूप में अभिहित किया जाता है। धार्मिक विश्वास के अंतर्गत ईश्वर की सत्ता में विश्वास आत्मा की अमरता में विश्वास मृत्यु प्रांत जीवन में विश्वास पुनर्जन्म में विश्वास मोक्ष की धारणा में विश्वास आदि सम्मिलित हैं। ब्लैक स्टोन ने धार्मिक विश्वास की परिभाषा निम्न प्रकार से की है। किसी निष्ठा के विषय के प्रति संपूर्ण प्रतिबद्धता ही धार्मिक विश्वास है। धर्म दार्शनिकों ने धार्मिक विश्वास के चार आधारों का उल्लेख किया है, आस्था, देवीउपासना, तर्क बुद्धि तथा रहस्यानुभूति।

3.2 अर्थ एवं परिभाषा

आस्था को प्रायः धार्मिक विश्वास का आधारभूत स्तंभ माना जाता है। प्रायः इसका प्रयोग विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा आदि अर्थों में होता है। प्रोफेसर बाइटमैन ने आस्था को तीन अर्थों में प्रयुक्त किया है।

1. आस्था श्रुति की स्वीकृत के रूप में प्रस्तुत होती है।
2. आस्था को ईश्वरीय देन के रूप में भी अभिहित किया जाता है।
3. आस्था को विश्वास के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। आस्था को विश्वास या आसाकारिता के अर्थ में ग्रहण किया जाता है।

आस्था व्यक्तित्व के सक्रिय पक्ष का द्योतक है। आस्था वह प्रक्रिया है जिसमें हमें आध्यात्मिक तत्व के साक्षात्कार होता है। साधु संतों में भी प्रायः यही नियम देखा जाता है। एक्विनास के अनुसार ईश्वर द्वारा प्रकाशित सत्यो की विश्वासपूर्ण स्वीकृति ही आस्था है। यह स्वीकृत एक ऐसी वैकल्पिक प्रक्रिया है जो भविष्यवाणी तथा चमत्कार जैसे बाह्य प्रमाणों एवं संकेतों द्वारा प्रेरित होती है। आस्था के वैकल्पिक पक्ष पर विशेष महत्व देते हुए विलियम जेम्स इसे धार्मिक ज्ञान में केंद्रीय स्थान देते हैं। आस्था केवल व्यावहारिक क्रिया है। सैद्धांतिक नहीं होती है।

यद्यपि इसमें सैद्धांतिक सत्यता निहित है तथापि यह सत्यता बौद्धिक तर्क की अपेक्षा व्यवहारिकता पर आधारित है आस्था का तथ्यों से उतना ही संबंध है जितना तथ्यों का मूल्य से होता है विकसित आस्था में आस्था स्थाई बौद्धिक दृष्टिकोण तथा व्यक्तित्व की पूर्ण प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होती है।

3.3 आस्था एवं विश्वास

समान्यता आस्था एवं विश्वास को एक मान लिया जाता है पर यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि दोनों में पर्याप्त भिन्नता है। आस्था में संपूर्णता गहनता तथा तीव्रता होती है जबकि विश्वास बौद्धिक होने के कारण आस्था की तरह स्थाई नहीं होता है। आस्था हृदय परक है तो विश्वास बुद्धि परक है आस्था का विषय आंतरिक है जबकि विश्वास के विषय आंतरिक एवं बाह्य दोनों हैं। आस्था स्थाई तथा अपरिवर्तनशील है जबकि विश्वास है यह अस्थायी तथा परिवर्तनशील होता है। आस्था में आत्मसंलग्नता तथा सहभागिता का भाव बना रहता है इसलिए व्यक्ति इसमें तटस्थ नहीं रह पाता है जबकि विश्वास में व्यक्ति तटस्थ बना रह सकता है। आस्था जहां व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है वहीं पर विश्वास व्यक्ति के व्यक्तित्व को उतना प्रभावित नहीं कर पाता है।

Encyclopedia of religion and ethics में विश्वास को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है विश्वास आश्वासन एवं दृढ़ धारणा की मानसिक स्थिति है। यह अपने आंतरिक अनुभूतियों के प्रति मन की वह मनोवृत्ति है जिसमें वह अपने द्वारा निर्दिष्ट वास्तविकता को यथार्थ महत्व या मूल्य के रूप में स्वीकृत तथा समर्पित करता है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि विश्वास तर्कणा से परिपूर्ण है और वास्तविकता के प्रति आसाकारिता का भाव पाते हैं।

विश्वास का विभाजन belief in तथा belief that के बीच किया गया है। किसी मनुष्य अथवा ईश्वर की सत्ता में विश्वास belief in कहा जाता है जबकि किसी कथन अथवा प्रतिशप्ति में विश्वास belief that कहा जाता है।

इन दोनों प्रकार के विश्वास के मूल अंतर यह है कि belief in तर्कना से परे है परंतु belief जीज में युक्ति एवं तर्क के लिए समुचित स्थान है इस प्रकार belief in आस्था के समकक्ष माना जा सकता है आस्था तथा विश्वास में से विश्वास आस्था की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

3.4 आस्था एवं ज्ञान पिजी and knowledge

आस्था एवं ज्ञान में कुछ अंतर होते हुए भी वास्तव में एक दूसरे के पूरक हैं। प्रायः गलत रूप में ही प्रयोग किए जाने पर दोनों में विरोध उत्पन्न होता है और जो विचारक आस्था के विरुद्ध ज्ञान का पक्ष लेते हैं वह यह मान लेते हैं कि जब आस्था ज्ञान की विरोधी प्रकट होती है तो केवल वही गलत होती है। जो व्यक्ति आस्था के पक्ष में ज्ञान का बहिष्कार करते हैं वह भी गलती करते हैं। एक ओर वे आस्था को महत्व देते हैं तो दूसरी ओर सत्य संबंधी दावे भी करते हैं वास्तव में दोनों ही दृष्टिकोण एकांगी तथा अतिवादी है। न ज्ञान आस्था का स्थान ले सकता है न ही आस्था ज्ञान का। ज्ञान तथा आस्था दोनों ऐसी प्रक्रियाएं हैं जो जीवन में विकसित होती हैं। दोनों की उत्पत्ति प्रयोजन मूलक होती है। ज्ञान का संबंध समन्वय तथा सामंजस्य की प्रक्रिया है इसके द्वारा विभिन्न तथ्यों के परस्पर संबंध की व्याख्या एवं सामान्यकरण किया जाता है। आस्था, ज्ञान की सीमा से बद्ध नहीं रह सकती जहां तक ज्ञान प्रत्येक कार्य का पथ प्रदर्शक है उसका अनुसरण करना आवश्यक है। किंतु ज्ञान का अनुसरण करने की इच्छा स्वयं एक प्रकार की आस्था है। अतएव आस्था ही ज्ञान का आधार है। धर्म के अतिरिक्त ऐसे कई अवसर हैं जहां त्याग श्रद्धा आदि की प्रेरणा मिलती है। इन अवसरों पर आस्था ज्ञान के संरक्षण को त्याग देती है।

क्रांतिकारी, देशभक्त, समाज सुधारक तथा परोपकारी व्यक्ति प्रायः असफलता एवं निराशा के मध्य भी अपने उद्देश्य में आस्था रखते हैं। यद्यपि ज्ञान प्रतिकूल परिणाम की ओर संकेत करता है किंतु आस्था उन्हें निरंतर संघर्ष की प्रेरणा देती है।

ज्ञान तथा आस्था एक दूसरे के विरोधी नहीं जो व्यक्तिगत रुचि आस्था में प्रमुख स्थान रखती है वह ज्ञान का भी पथ प्रदर्शन करती है। ज्ञान स्वयं आस्था द्वारा उत्तेजित होता है तथा आस्था में ही समाप्त होता है।

दोनों अनुभूत विश्व के प्रति आत्मा की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होते हैं अतएव दोनों ही प्रयोजनमूलक होते हैं जो एक दूसरे के लिए महत्वपूर्ण है वह अंत में दूसरे के लिए भी महत्वपूर्ण होता है।

3.5 आस्था की विशेषताएं

आस्था किसी विचार, आदर्श, मूल्य, व्यक्ति या कथन में मनुष्य का यह दृढ़ विश्वास है जिसे वह पर्याप्त एवं विश्वसनीय प्रमाणों के ना होते हुए भी पूर्णतः स्वीकार करता है तथा जिसमें कुछ अनिश्चितता अनिवार्य विद्यमान रहती है। आस्था की सर्वप्रथम विशेषता यह है की आस्था का तथ्यों अथवा आध्यात्मिक कथनों या वैज्ञानिक कथनों से संबंध नहीं है प्रायः तथ्यपरक कथनों के संदर्भ में आस्था के स्थान पर विश्वास शब्द का प्रयोग होता है। आस्था की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इससे निर्बौद्धिक मनोदशा के रूप में विदित किया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है की आस्था के विषयों को तार्किक दृष्टि से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है जिस विषय में हमारी आस्था होती है उसे अनुभव, निरीक्षण या तर्कबुद्धि के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। महान दार्शनिक इमानुएल कांट ने *critiq of pure reason* में स्पष्ट कहा है कि ईश्वर, आत्मा, संकल्प की स्वतंत्रता आदि हमारे ज्ञान के विषय नहीं है इनका तर्कबुद्धि और अनुभव द्वारा ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इन्हें आस्था के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है की आस्था को निर्बौद्धिक कहने का यह अभिप्राय नहीं है की आस्था पूर्णतः तर्क विरोधी या बुद्धि विरोधी है। तर्क विरोधी और बुद्धि विरोधी विश्वास आस्था न होकर अंधविश्वास है। आस्था की एक अन्य विशेषता यह है कि यह अनिश्चयात्मक होती है जो विषय निश्चित एवं प्रमाणित होते हैं वह आस्था के विषय ना होकर ज्ञान के विषय हैं।

प्रायः तथ्य परक कथनों के सन्दर्भ में आस्था के स्थान पर विश्वास शब्द का प्रयोग होता है। आस्था की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसे निर्बौद्धिक मनोदशा के रूप में वर्णित किया जाता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आस्था के विषयों को तार्किक दृष्टि से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। जिस विषय में हमारी आस्था होती है उसे अनुभव, निरीक्षण या तर्क बुद्धि के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। जर्मन दार्शनिक इमैनुअल कांट ने "*Critique of Pure Reason*" में स्पष्ट कहा है कि ईश्वर, आत्मा, संकल्प की स्वतंत्रता आदि हमारे ज्ञान के विषय नहीं है, इनका तर्कबुद्धि और अनुभव द्वारा ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इन्हे आस्था के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है।

यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आस्था को निर्बौद्धिक कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि आस्था पूर्णतः तर्क विरोधी या बुद्धिविरोधी है। तर्क विरोधी और बुद्धि विरोधी विश्वास आस्था न होकर अंधविश्वास है। आस्था की एक अन्य विशेषता यह है कि यह अनिश्चयात्मक होती है। जो विषय निश्चित एवं प्रमाणिक होते हैं, वे आस्था के विषय न होकर ज्ञान के विषय हैं।

यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि आस्था की अनिश्चयात्मकता आस्थावान के लिए नहीं है अपितु एक वैज्ञानिक तथा तार्किक दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति के लिए है। आस्थावान तो उस विषय में पूर्ण निश्चित विचार रखता है, जिसमे वह आस्था रखता है।

उदाहरणार्थ—जो धार्मिक व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्व या आत्मा की अमरता में आस्था रखता है वह उनकी अस्तित्वविहीनता की कल्पना तक नहीं करता है। उसकी दूसरी ओर इन विषयों में जिनकी आस्था नहीं होती है, वे इनके अनस्तित्व की न केवल कल्पना करते हैं अपितु उसके अस्तित्व का खण्डन भी करते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आस्थावान व्यक्ति की निश्चयात्मकता वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ होती है क्रिके गार्ड जैसे—समकालीन अस्तित्ववादी विचारक या आस्थावान मनुष्य भी निश्चयात्मकता को धर्म का अनिवार्य तत्व मानकर इसे विशिष्ट महत्व देते हैं। आस्था की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसका आस्थावान पर अमित प्रभाव पड़ता है। तथ्य परक सामान्य विश्वास तथा ज्ञान के विपरीत आस्था मानव व्यक्तित्व का अपृथक भाग बन जाती है। जिन तथ्यों सिद्धांतों या मान्यताओं का ज्ञान मनुष्य अनुभव, निरीक्षण प्रयोग या तर्कबुद्धि के द्वारा प्राप्त करता है।

वह उसमें परिवर्तन, संशोधन या परित्याग के लिए मानसिक रूप से तैयार रहता है, जबकि आस्था के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है। आस्थावान के विषय के प्रति आस्थावान तटस्थ नहीं रह सकता।

विटिगन्सटाइन ने कहा है कि आस्था एक विशेष प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिए मनुष्य को प्रेरित करती है। एक आस्थावान व्यक्ति जिन विषयों में आस्था रखता है, उसी के अनुरूप जीवन व्यतीत करने के लिए वह बाध्यता या प्रतिबद्धता का अनुभव करता है। आस्था का आधार श्रद्धा है, जिससे व्यक्ति अपने जीवन को उत्प्रेरित करता है।

3.6 प्रमाण

आस्था को प्रमाणों या तर्कों के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। रसेल के शब्दों में हम कह सकते हैं कि आस्था ऐसा वस्तु में दृढ़ विश्वास है, जिसके लिए कोई साक्ष्य नहीं हो। जहाँ साक्ष्य हो, वहाँ आस्था को बात ही नहीं की जा सकती है। – दो और दो चार होते हैं।, पृथ्वी गोल है।, आदि आस्था का विषय नहीं है। हम आस्था की बात नहीं करते हैं जहाँ साक्ष्य के स्थान पर भावना को प्रस्तुत किया जाता है। अब प्रश्न यह है कि आस्था संज्ञानात्मक है अथवा नहीं? प्रायः यह कहा जाता है कि आस्था का प्रयोग संज्ञानात्मक और असंज्ञानात्मक दोनों अर्थों में प्रयुक्त होती है।

उदाहरणार्थ मुझे ईश्वर में पूर्ण आस्था है, ईश्वर विश्व का रचयिता है, ईश्वर हमारी प्रार्थना को सुनता है आदि कथन संज्ञानात्मक कथन हैं। जहाँ धार्मिक व्यक्ति ईश्वर के गुणों एवं कार्यों का ज्ञान प्राप्त करने प्रयास कर रहा है। दूसरी ओर 'मुझे ईश्वर में पूर्ण आस्था है, मुझे अमुक सिद्धान्त में आस्था है।' आदि कथन असंज्ञानात्मक हैं। यहाँ आस्था के द्वारा किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया जा रहा है आस्था के इस रूप को प्रायः श्रद्धा सम्बन्धी आस्था' कहा जाता है। जान हिक् ने भी इस बात का समर्थन किया है कि आस्था संज्ञानात्मक तथा असंज्ञानात्मक दोनों होती है उनका कथन है आस्था शब्द का प्रयोग संज्ञानात्मक तथा असंज्ञानात्मक दोनों अर्थों में किया जाता है।¹⁸

3.7 समीक्षा

समीक्षकों के मत का जहाँ तक प्रश्न है, वे आस्था को विज्ञान की तरह संज्ञानात्मक नहीं मानते क्योंकि आस्था के विषय, विज्ञान के विषयों की तरह तथ्यपरक या वस्तुपरक नहीं होते हैं। आस्था भावमूलक है, इसमें अभिवृत्ति रहती है तथा इस अभिवृत्ति को युक्तियों के द्वारा समर्थित करना कठिन होता है सभी आस्था का विषय मुक्तिपरक या यौक्तिक नहीं होते हैं।

वस्तुतः आस्था युक्तिपरक (Rational) अयुक्तिपरक (a-Rational), युक्तिविरोधी (Irrational) तथा युक्तितटस्थ (Non-rational) हो सकती है। अयुक्तिपरक आस्था उसे कहा जा सकता है, जिसमें युक्तियाँ न भावात्मक रूप से तथा न अभावात्मक रूप से दी जा सकती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त तथा आत्मा की अमरता सम्बन्धी आस्था इसी कोटि में आती है। युक्ति विरोधी आस्था वह है कि जिन्हे धार्मिक व्यक्ति ज्ञान के विरुद्ध रहने पर भी अपनी आस्था का विषय बनाये रहते हैं। 'ईसा कुवारी या मरियम के पुत्र है।' इसी प्रकार की आस्था है। युक्ति तटस्थ आस्था वह है, जहाँ सिद्धांत, युक्तियों का स्थान नहीं रहता है। स्वर्ग-नरक न्याय दिवस आदि की अवधारणाएं इसी प्रकार की आस्था के विषय हैं।

3.8 सारांश

धार्मिक आस्था का सम्बन्ध अनिवार्यतः, किसी दैवी सत्ता तथा अन्य अतिप्राकृतिक विषयों से है। जब कोई व्यक्ति ईश्वर या किसी अन्य देवी-देवता, आत्मा, पुनर्जन्म, अवतार, परलोक, स्वर्ग नरक आदि अतीन्द्रिय अथवा अनुभवातीत विषयों में आस्था रखता है तो हम उसकी इस आस्था को धार्मिक आस्था की संज्ञा दे सकते हैं यह अलौकिक धार्मिक आस्था का अनिवार्य तत्व है।

धर्म तथा धार्मिक विषयों से अनिवार्यतः सम्बन्ध होने के कारण ही ऐसी आस्था को 'धार्मिक आस्था' कहा जाता है धार्मिक आस्था के अभाव में मानव जीवन के लिए धर्म के अस्तित्व तथा उसकी सार्थकता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस प्रकार धार्मिक आस्था को धर्म का मूल आधार माना जा सकता है इस प्रकार निष्कर्षता यह कह सकते हैं कि मानव जीवन के लिए धार्मिक आस्था की भूमिका सीमित ही प्रतीत होती है।

3.9 बोध— प्रश्न

1. आस्था से आप क्या समझते हैं? आस्था और विश्वास में अंतर स्पष्ट कीजिए।
 2. क्या आस्था और ज्ञान में अंतर होता है? समझाइए।
-

3.10 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्म दर्शन — डॉ. याकूब मसीह।
2. धर्म दर्शन की मूल समस्याएं— डॉ. वेद प्रकाश वर्मा।
3. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन— डॉ. शिव भानु सिंह।

इकाई-4 तर्क

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 धर्म और तर्क बुद्धि के बीच संबंध
- 4.3 प्रमुख दार्शनिक विचार
- 4.4 समीक्षा
- 4.5 सारांश
- 4.6 बोध प्रश्न
- 4.7 उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

धर्म और तर्क बुद्धि का संबंध सदियों से दार्शनिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। एक ओर जहाँ धार्मिक विश्वास को अक्सर आस्था, अनुभूति और परंपरा पर आधारित माना जाता है, वहीं दूसरी ओर तर्क बुद्धि को ज्ञान और समझ का एक वैज्ञानिक साधन माना जाता है। इस इकाई का उद्देश्य इन दोनों क्षेत्रों के बीच संबंध का गहन विश्लेषण करना है, विशेष रूप से यह समझने के लिए कि तर्क बुद्धि किस प्रकार धार्मिक विश्वासों के निर्माण और समर्थन में भूमिका निभा सकती है।

इस अध्ययन सामग्री में, हम धार्मिक विश्वास और तर्क बुद्धि के बीच के संबंध को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखेंगे। हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि कैसे विभिन्न दार्शनिक और धार्मिक परंपराओं ने इस संबंध को देखा है, और कैसे आधुनिक समय में यह विचार विकसित हुआ है। हम तर्क बुद्धि के विभिन्न रूपों और उनके धार्मिक विश्वास पर प्रभाव का अध्ययन करेंगे, साथ ही यह भी देखेंगे कि कैसे धार्मिक विश्वास तर्क बुद्धि को प्रभावित कर सकता है।

4.1 प्रस्तावना

धर्मदर्शन के अंतर्गत विचारणीय महत्वपूर्ण समस्याओं में धार्मिक ज्ञान व उसके स्वरूप का विवेचन महत्वपूर्ण है। इस विषय का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि यह हमें धर्म और विज्ञान, आस्था और तर्क, अनुभूति और बुद्धि जैसे द्वंद्वों के बीच संतुलन खोजने में मदद करता है। यह हमें अपने धार्मिक विश्वासों को और अधिक गहराई से समझने, उनकी तार्किक आधार रेखा को पहचानने, और उन्हें अधिक सुविचारित तरीके से व्यक्त करने में सहायता करता है।

आगे के अनुच्छेदों में, हम इस विषय के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से चर्चा करेंगे, जिसमें ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, प्रमुख दार्शनिक विचार, तर्क बुद्धि के विभिन्न प्रकार, धार्मिक तर्क के उदाहरण, आलोचनाएँ और चुनौतियाँ, और वर्तमान समय में इस विषय की प्रासंगिकता शामिल हैं।

सामान्यता ज्ञान का अर्थ है कि मनुष्य अपने निरीक्षण तथा तर्कबुद्धि के द्वारा जो कुछ जानता है या जान सकता है वह ज्ञान है इस ज्ञान को जब हम धार्मिक विषयों के संबंध में जैसे— ईश्वर का अस्तित्व, आत्मा की अमरता, भक्ति इत्यादि विषयों में प्रयुक्त करते हैं तो वह धार्मिक ज्ञान कहलाता है विश्व के प्रमुख धर्मों या धर्म ग्रंथों में भी प्रायः इन्हीं विषयों से संबंधित कथन तथा सिद्धान्तों को धार्मिक ज्ञान के अंतर्गत माना गया है इसके प्रमुख आधार के रूप में तर्कबुद्धि की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है जीवन में तर्कबुद्धि का अत्यधिक प्रभाव है अरस्तू के अनुसार तर्क बुद्धि ही मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग करती है और मनुष्य को उत्कृष्ट बनाती है। तर्क बुद्धि द्वारा मनुष्य जीवन तथा जगत की समस्याओं पर बौद्धिक दृष्टि से विचार करने में समर्थ होता है। मनुष्य की यह एक विशेष बौद्धिक शक्ति है, जिसका संबंध विवेक संकल्प, आदि बौद्धिक क्रिया से अधिक है जिसमें किसी प्रकार की अलौकिकता हेतु कोई स्थान नहीं है धार्मिक दृष्टि से इसका सर्वाधिक

योगदान दैव प्रकाशना या रहस्यात्मक अनुभूति को स्पष्ट करने में है।

इस प्रकार की अनुभूतियों की प्रकाशित करने के लिए तथा अन्य व्यक्तियों तक संप्रेषित कर स्थायी बनाने के लिए भाषा की आवश्यकता होती है, जिसका निर्माण तर्क बुद्धि द्वारा ही संभव होता है, प्रत्येक धर्म का आधार कोई न कोई श्रुति (जिसे सुनकर लिखा या बताया जाये जैसे कुरान, गीता, वेद आदि) होती है, जो कि सामान्यता रहस्यात्मक अनुभूतियों एवं दैवी प्रकाशना पर आधारित होती है। इन सभी को क्षणिक तथा अस्थायी माना जाता है इसलिए तर्क बुद्धि द्वारा क्षणिक अनुभूतियों को लिपिबद्ध करने एवं संप्रेषित करने में सफलता मिलती है।

प्रत्येक धार्मिक ग्रंथों में अनेक दुरुह एवं अस्पष्ट तथ्यों का वर्णन होता है। जैसे— उपनिषद्, गीता, कुरान, बाइबिल आदि धर्म के आधार स्तम्भ हैं इनके संक्षिप्त सूत्रों का स्पष्टीकरण अपेक्षित है तर्क बुद्धि द्वारा ही दुरुह अंशों की व्याख्या करके स्पष्टीकरण किया जाता है तर्क बुद्धि के अभाव में धर्म ग्रंथों की स्पष्ट व्याख्या संभव नहीं है।

धार्मिक ज्ञान के स्रोत के रूप में तर्क बुद्धि एक तरफ धर्म को अंधविश्वासों से मुक्त करती है। वहीं दूसरी ओर वस्तुनिष्ठता एवं सार्वभौमिकता का पुट लाती है यदि धर्म की युगानुरूप व्याख्या करनी हो तो तर्क बुद्धि को स्वीकार करना ही पड़ेगा जब हम विवेक से हटकर अपने अंतःकरण में मूलप्रवृत्ति पर विश्वास कर लेते हैं तो मुस्किलों में पड़ जाते हैं इस दृष्टि से धार्मिक ज्ञान में तर्क बुद्धि की सदैव आवश्यकता रहती है साथ ही धर्म को भविष्य के लिए उपयोगी भी बनाये रखती है। यहाँ समस्या है कि क्या तर्कबुद्धि पर आधारित ज्ञान की कसौटी पर धार्मिक बातों की निश्चित व्याख्या संभव है।

4.2 धर्म और तर्क बुद्धि के बीच संबंध

धर्म और तर्कबुद्धि के बीच संबंध का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव सभ्यता का। प्राचीन काल से ही, मनुष्य ने अपने आस-पास की दुनिया और अपने अस्तित्व के अर्थ को समझने का प्रयास किया है। इस प्रक्रिया में, धार्मिक विश्वास और तार्किक चिंतन दोनों ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं।

प्राचीन यूनानी दर्शन में, सुकरात, प्लेटो और अरस्तू जैसे दार्शनिकों ने धार्मिक विश्वासों और नैतिक मूल्यों को तर्क बुद्धि के माध्यम से समझने का प्रयास किया। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि क्या देवताओं का अस्तित्व तर्क से सिद्ध किया जा सकता है, और नैतिकता के लिए धार्मिक आधार की आवश्यकता है या नहीं।

मध्यकालीन यूरोप में, ईसाई धर्म के प्रभाव के साथ, धार्मिक विश्वास और तर्क बुद्धि के बीच संबंध और भी जटिल हो गया। सेंट ऑगस्टीन और सेंट थॉमस एक्विनास जैसे धर्मशास्त्रियों ने ईश्वर के अस्तित्व को तर्क बुद्धि के माध्यम से सिद्ध करने का प्रयास किया। उन्होंने यह तर्क दिया कि विश्वास और तर्क एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं।

इस्लामिक दर्शन में भी, अल-किंदी, अल-फाराबी और इब्न सीना जैसे दार्शनिकों ने तर्क बुद्धि और धार्मिक विश्वास के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होंने यूनानी दर्शन और इस्लामिक शिक्षाओं के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

भारतीय दर्शन में, न्याय और वैशेषिक जैसे दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को तार्किक रूप से सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। बौद्ध धर्म में, तर्क और विश्लेषण को आध्यात्मिक प्रगति का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है।

आधुनिक काल में, विज्ञान के उदय के साथ, धर्म और तर्क बुद्धि के बीच संबंध और भी जटिल हो गया। एक ओर जहाँ कुछ विचारकों ने धर्म और विज्ञान के बीच संघर्ष की स्थिति देखी, वहीं दूसरों ने इन दोनों के बीच समन्वय की संभावना तलाशी।

इस प्रकार, ऐतिहासिक रूप से, धार्मिक विश्वास और तर्क बुद्धि का संबंध एक जटिल और गतिशील रहा है, जो विभिन्न सभ्यताओं और काल में अलग-अलग रूपों में व्यक्त हुआ है।

तर्क बुद्धि के लिए बोधगम्यता संगति प्रमाणिकता का होना अनिवार्य है। इसका अर्थ हुआ कि विचार, विश्वास या सिद्धान्त का प्रस्तुतीकरण किया जाये तो उसकी भाषा स्पष्ट एवं बोधगम्य होनी चाहिए यदि भाषा

अस्पष्ट है तो हमारे लिए यह निरर्थक होगी इसी प्रकार विश्वास या सिद्धान्त में पूर्ण संगति भी महत्वपूर्ण है अर्थात् तार्किक दृष्टि से ऐसा चिंतन तभी सार्थक माना जायेगा जब इसमें किसी प्रकार का व्याधान न हो।

पुनः ज्ञान के पक्ष में निश्चित तथा विश्वसनीय प्रमाण होना चाहिए। यदि विश्वास के संबंध में कोई विरुद्ध प्रमाण है तो उसे मिथ्या मानना अनिवार्य हो जाता है। इन कसौटियों के अतिरिक्त व्यापक अर्थ में मानवी अनुभव का भी तर्क बुद्धि के साथ घनिष्ठ संबंध है। अनुभव के आधार पर उपयोगी एवं निश्चित निष्कर्ष निकालकर लाभ उठाने की क्षमता मनुष्य को उसकी तर्क बुद्धि ही प्रदान करती है।

तर्क बुद्धि की कसौटियों के संदर्भ में धार्मिक ज्ञान की निश्चित व्याख्या संभव नहीं है धार्मिक ज्ञान आत्मा आदि अतेन्द्रिय सत्ताओं से संबंधित होता है जिसमें बोधगम्यता का अभाव पाया जाता है इसके अतिरिक्त धार्मिक ज्ञान में विरोधाभास या असंगति विद्यमान रहती है पुनः धार्मिक ज्ञान अपरीक्षणीय होता है जिसका संबंध इन्द्रिय जगत या आणविक जगत की वस्तुओं से न होकर अलौकिक जगत से होता है। धर्म परायण व्यक्ति अपने धार्मिक ज्ञान को सदैव अपरिवर्तनशील मानता है उसका यही दृष्टिकोण धार्मिक ज्ञान के प्रति आस्था का रूप ले लेता है जो कि निर्बोधिक अवस्था है।

अतः हमारा समस्त ज्ञान तर्कबुद्धि पर आधारित होता है जबकि धार्मिक ज्ञान आस्था पर ही केन्द्रित रहा है। इस विचार या सत्ता के प्रति मनुष्य का दृढ़ विश्वास आस्था है जिसे पर्याप्त विश्वसनीय होते हुये भी स्वीकार करता है इसलिए धार्मिक ज्ञान अपने स्वरूप में तर्कबुद्धि में आधारित ज्ञान से पूर्णतया भिन्न होती है मानवीय तर्क बुद्धि के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व आत्मा की अमरता की कोई निश्चित व्याख्या नहीं हो सकती।

उल्लेखनीय है कि आई एच हक्सले जैसे विद्वान मानते हैं कि धार्मिक ज्ञान के संदर्भ में तर्क बुद्धि की भूमिका अप्रसांगिक है उनके अनुसार हमारी सीमित बुद्धि असीमित ईश्वर को जानने में असमर्थ है अतः इस संदर्भ में कुछ भी कहना तर्क संगत नहीं है। जो दार्शनिक धार्मिक ज्ञान का आधार तर्क बुद्धि को नहीं मानते हैं। उनका पक्ष है कि ईश्वर सभी प्रकार के संबंधों से परे है।

अतः विमर्शात्मक बुद्धि के माध्यम से ईश्वर को जान नहीं सकता है दार्शनिक काण्ट भी परामार्थ को अज्ञेय कहते हैं। पुनः समीक्षकों का स्पष्टीकरण है कि बुद्धि के माध्यम से तत्वों को जानने का दावा किया जाता है तो उसकी प्रमाणिकता निर्धारण कौन करेगा ?

4.3 प्रमुख दार्शनिक विचार

धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में तर्क बुद्धि की भूमिका पर विभिन्न दार्शनिकों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। यहाँ कुछ प्रमुख दार्शनिक विचारों पर चर्चा की जाएगी।

प्लेटो का दृष्टिकोण : प्लेटो ने अपने *रिपब्लिक* में धर्म और नैतिकता के बीच संबंध पर चर्चा की। उन्होंने तर्क दिया कि सच्चा ज्ञान तर्क बुद्धि से प्राप्त होता है, न कि केवल धार्मिक विश्वास से। उनका मानना था कि धार्मिक कथाओं और मिथकों को तर्क बुद्धि की कसौटी पर कसा जाना चाहिए।

अरस्तू का योगदान : अरस्तू ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तार्किक तर्क दिए। उन्होंने 'पहला कारण' या 'अचल चालक' का सिद्धांत प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार सृष्टि के पीछे एक मूल कारण होना चाहिए, जिसे वे ईश्वर मानते थे।

सेंट ऑगस्टीन का दृष्टिकोण : ऑगस्टीन ने विश्वास और समझ के बीच संबंध पर जोर दिया। उनका प्रसिद्ध कथन था *प्समझने के लिए विश्वास करो*, विश्वास करने के लिए समझो।¹⁶ उनका मानना था कि विश्वास तर्क बुद्धि की नींव है, लेकिन तर्क बुद्धि विश्वास को और मजबूत करती है।

सेंट थॉमस एक्विनास के विचार : एक्विनास ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पाँच तार्किक तर्क दिए, जिन्हें 'पंच मार्ग' के नाम से जाना जाता है। उन्होंने तर्क दिया कि विश्वास और तर्क एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बल्कि दोनों सत्य की ओर ले जाते हैं।

रेने देकार्त का योगदान : देकार्त ने तर्क बुद्धि को ज्ञान का प्राथमिक स्रोत माना। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तार्किक तर्क दिए, जिसमें उन्होंने तर्क दिया कि ईश्वर की धारणा हमारे मन में है, और

यह धारणा केवल एक पूर्ण सत्ता द्वारा ही दी जा सकती है।

इमैनुएल कांट के विचार : कांट ने तर्क दिया कि परंपरागत ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण अपर्याप्त हैं। हालाँकि, उन्होंने यह भी कहा कि नैतिकता के लिए ईश्वर की धारणा आवश्यक है। उनका जैतिक तर्क कहता है कि यदि नैतिकता वास्तविक है, तो ईश्वर का अस्तित्व होना चाहिए।

विलियम जेम्स का प्रैग्मेटिक दृष्टिकोण : जेम्स ने तर्क दिया कि धार्मिक विश्वास का मूल्यांकन उसके व्यावहारिक परिणामों के आधार पर किया जाना चाहिए। उनका मानना था कि यदि कोई विश्वास व्यक्ति के जीवन को बेहतर बनाता है, तो उसे स्वीकार किया जा सकता है।

अल्विन प्लांटिंगा का तर्क : प्लांटिंगा ने 'वारंटेड क्रिश्चियन बिलीफ' में तर्क दिया कि ईसाई विश्वास तर्कसंगत हो सकता है, भले ही उसे पूरी तरह से सिद्ध न किया जा सके।

रिचर्ड स्विनबर्न का बेयेसियन दृष्टिकोण : स्विनबर्न ने बेयेसियन तर्क का उपयोग करके ईश्वर के अस्तित्व की संभावना का मूल्यांकन करने का प्रयास किया। उन्होंने तर्क दिया कि विश्व की जटिलता और नियमितता ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में एक मजबूत तर्क प्रस्तुत करती है।

एंथनी फ्लू का परिवर्तन : लंबे समय तक नास्तिक रहने के बाद, फ्लू ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया। उन्होंने तर्क दिया कि जीवन की उत्पत्ति और ब्रह्मांड की जटिलता को समझने के लिए एक बुद्धिमान डिजाइनर की आवश्यकता है।

इन विभिन्न दार्शनिक विचारों से स्पष्ट होता है कि धार्मिक विश्वास और तर्क बुद्धि के बीच संबंध एक जटिल और बहुआयामी विषय है। कुछ दार्शनिकों ने तर्क बुद्धि को धार्मिक विश्वास के समर्थन में इस्तेमाल किया है, जबकि अन्य ने इसका उपयोग धार्मिक दावों की आलोचना के लिए किया है। यह विविधता इस बात को रेखांकित करती है कि तर्क बुद्धि और धार्मिक विश्वास के बीच संबंध एक सरल द्विभाजन से परे है।

4.4 समीक्षा

धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में तर्क बुद्धि की भूमिका पर कई आलोचनाएँ और चुनौतियाँ प्रस्तुत की गई हैं। यहाँ कुछ प्रमुख आलोचनाओं और चुनौतियों पर चर्चा की जा रही है—

तर्क की सीमाएँ— कई दार्शनिकों का मानना है कि तर्क बुद्धि की अपनी सीमाएँ हैं और वह धार्मिक विश्वास जैसे व्यक्तिगत और भावनात्मक विषयों को पूरी तरह से समझने या समर्थन करने में असमर्थ हो सकती है।

उदाहरण — डेविड ह्यूम ने तर्क दिया कि हम कारण—प्रभाव संबंधों के बारे में निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, जो कई धार्मिक तर्कों का आधार है।

विश्वास बनाम तर्क— कुछ धार्मिक विचारकों का मानना है कि धार्मिक विश्वास मुख्य रूप से आस्था पर आधारित होता है, न कि तर्क पर। वे तर्क करते हैं कि तर्क बुद्धि का अत्यधिक उपयोग विश्वास के मूल तत्व को कमजोर कर सकता है।

उदाहरण — सोरेन किर्केगार्ड ने तर्क दिया कि ईश्वर में विश्वास एक छलांग है जो तर्क से परे है।

तर्क की व्याख्या — एक ही तर्क की विभिन्न व्याख्याएँ हो सकती हैं, जो विभिन्न निष्कर्षों की ओर ले जा सकती हैं। यह धार्मिक विश्वास के लिए तर्क के उपयोग को जटिल बना देता है।

उदाहरण— कॉस्मोलॉजिकल तर्क की विभिन्न व्याख्याएँ ईश्वर के अस्तित्व, बहुदेववाद, या यहां तक कि नास्तिकता का समर्थन करने के लिए की जा सकती हैं।

विरोधाभास और अस्पष्टता — कई धार्मिक अवधारणाएँ तार्किक विरोधाभासों या अस्पष्टताओं से भरी होती हैं, जो उन्हें तर्क बुद्धि के माध्यम से पूरी तरह से समझना कठिन बना देती हैं।

4.5 सारांश

स्पष्टतया मानव ज्ञान की यह सीमा है कि वह अपनी तर्क बुद्धि, यहाँ तक व्यापक अर्थ में इन्द्रिय

अनुभव के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से धार्मिक ज्ञान से जुड़ी अलौकिक सत्ता की व्याख्या नहीं कर पाता। अतः धार्मिक ज्ञान में तर्कबुद्धि ज्ञान की सीमित भूमिका है इसीलिए तर्क बुद्धि के बजाय धार्मिक ज्ञान को श्रुति एवं रहस्यात्मक अनुभूति के आधार पर आस्था के द्वारा ही व्याख्यायित किया जाता है।

4.6 बोध प्रश्न

1. धार्मिक विश्वास के आधार के रूप में तर्क बुद्धि की भूमिका का परीक्षण कीजिए।
2. क्या तर्क बुद्धि धार्मिक विश्वास , धार्मिक मान्यताओं के संबंध में सकारात्मक रूप से सहायक है?

4.7 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्म दर्शन – डॉ याकूब मसीह।
2. धर्म दर्शन की मूल समस्याएं– डॉ वेद प्रकाश वर्मा।
3. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन– डॉ शिव भानु सिंह।

इकाई-5 दैवी प्रकाशना

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 परिभाषा एवं अर्थ
- 5.3 सारांश
- 5.4 बोध- प्रश्न
- 5.6 उपयोगी पुस्तकें
- 5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई में दैवी-प्रकाशना पर विस्तृत चर्चा की गयी है। यह दैवी प्रकाशना धर्म दार्शनिकों द्वारा बताये गये धार्मिक विश्वास के चार आधारों में से एक है। यहाँ न केवल दैवी प्रकाशना के बारे में विचार किया गया है बल्कि उससे सम्बन्धी विभिन्न परिभाषाएं भी दी गयी हैं। इसके अतिरिक्त ईकाई के अन्त में विभिन्न प्रमाणों तथा आधारों पर भी विस्तृत चर्चा की गयी है।

5.1 प्रस्तावना

दैवी प्रकाशना धार्मिक विश्वास का महत्वपूर्ण आधार है। किसी अप्रकाशित विषय को प्रकाशित करना ही प्रकाशना है। धार्मिक क्षेत्र में सदैव- प्रकाशना का आशय उस माध्यम से है, जिसके द्वारा ईश्वर स्वयं मनुष्यों को अपने विषय में जानकारी देता है ताकि मानव जीवन में लाभ प्राप्त कर सके। दैव प्रकाशना के द्वारा ईश्वर अपने स्वरूप एवं अस्तित्व को प्रकाशित करता है।

5.2 परिभाषा एवं अर्थ

दैव प्रकाशना का अर्थ है – ईश्वर या दैवी सत्ता का आत्मा- प्रकाशन या स्वयं को प्रकाशित करना उसे दैवी सत्ता का अभिव्यक्तिकरण (divine-self-describe) भी कहा जा सकता है। Catholic Encyclopedia में दैवी प्रकाशना को ईश्वर द्वारा बौद्धिक प्राणियों के बीच असाधारण साधन के द्वारा कुछ सत्यों के प्रकटीकरण के रूप में परिभाषित किया गया है।

एच. डी. लेविस ने अपनी पुस्तक 'The Philosophy of Religion' में दैवी प्रकाशना को इस प्रकार परिभाषित किया है- 'दैवी प्रकाशना (ईश्वरीय प्रकाशना) के माध्यम से ईश्वर हमें जानकारी देता है कि उसका स्वरूप क्या है तथा वह क्या हमसे अपेक्षा करता है।'

जान हिक् दैव प्रकाशना के बारे में कहते हैं कि 'दैव प्रकाशना मानव की दैव प्रमाणित सत्यों का प्रकटीकरण है।' हिक् का मानना है कि मनुष्य सीमित होने के कारण ईश्वरीय गुणों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में अक्षम है क्योंकि ईश्वरीय गुण असीम तथा उच्चतम है जबकि मानवीय गुण ससीम (सीमित) है। अतः ये गुण मानव को ईश्वर द्वारा स्वयं बतलाये गये हैं। दैवी संदेश की अभिव्यक्ति आकाशवाणी, चमत्कार या अन्तर्बोध आदि के माध्यम से होती है। दैवी प्रकाशना को हम विश्व को ईश्वरीय देन के रूप में अभिहित कर सकते हैं। इस प्रकार दैवी प्रकाशना के माध्यम से ईश्वर मनुष्य को सत्य की जानकारी देता है। यह जानकारी साधारण ढंग से नहीं बल्कि चमत्कारी ढंग से देता है।

दैव-प्रकाशना में सक्रिय ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है, साथ ही यह भी विश्वास किया जाता है कि ईश्वर में सत्यों को प्रदान करने की क्षमता निहित होती है। इसके अतिरिक्त दैव-प्रकाशना में बौद्धिक प्राणियों की भी सत्तास्वीकार की जाती है जो सत्यों को ग्रहण करता है। दैव प्रकाशना विश्व को ईश्वरीय देन है, जिसका बोध केवल ईश्वरवादियों को ही हो सकता है। धर्म के क्षेत्र में एक धार्मिक व्यक्ति ईश्वर के बारे में अधिक से अधिक जानना चाहता है। वह ईश्वर से सम्पर्क स्थापित करना चाहता है-

या ईश्वर के साक्षात्कार की इच्छा रखता है। उसमें ईश्वर से मिलने की व्यग्रता या उत्सुकता या तड़प

होती है। ईश्वर भी स्वयं को मानव के समक्ष तभी प्रस्तुत करता है जब मानव ईश्वर की ग्राह्यता में सक्षम सिद्ध होता है। धर्मशास्त्रों में भी ईश्वर की प्रकाशना विशेष रूप में दिखायी पड़ती है। गीता, बाइबिल, कुरान, आदि में ईश्वर की प्रकाशना देखी जाती है।

अनेक धर्मों में कुछ ऐसे महापुरुषों का उल्लेख है, जिन्हें नबी का अवतार कहा जाता है, जिन्हें जीवन एवं निधन से दैवी प्रकाशना की झलक मिलती है। उदाहरण के लिए ईसा, भगवान राम, कृष्ण, मूसा तथा पैगम्बर ऐसे ही महापुरुष हैं जिनके जीवन की घटनाओं से दैवी प्रकाशना को झलक मिलती है। शब्द तथा घटना के माध्यम से अभिव्यक्त दैवी प्रकाशना में भेद किया जा सकता है। शब्दों के रूप में संकलित दैवी प्रकाशना का उदाहरण वेद, बाइबिल आदि श्रुतियों से मिलता है, घटनाओं के रूप में दैवी संदेश की अभिव्यक्ति आकाश वाणी या चमत्कार के माध्यम से होती है।

धार्मिक अनुभूति के आधार पर सामान्य तथा विशिष्ट दैवी प्रकाशना में भेद किया जा सकता है। विश्व की अनेक वस्तुओं तथा घटनाओं में धार्मिक व्यक्ति को सन्देश प्राप्त होता है। इसके विपरीत चमत्कार आदि विशिष्ट घटनाओं के माध्यम से विशिष्ट दैवी प्रकाशना अभिव्यक्त होती है।

विलियम टेम्पल ने 'Nature of god' नामक पुस्तक में ईश्वर के आत्मप्रकाशन तथा अन्य कार्यों के मध्य विभेद का निवेध अवलोकनार्थ है। उनके विचार थे कि ईश्वर के समस्त कार्य उसके स्वरूप की प्रकाशना करते हैं। भारतीय दर्शन में श्रीमद्भगवद्गीता में भी स्पष्टता ईश्वर के अवतरित होने की बात को स्वीकार किया गया है।

अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य भी प्रतिपादित करते हैं कि ब्रह्मज्ञान के द्वारा जीवमुक्त हो जाने पर ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

विशिष्टाद्वैत के संस्थापक आचार्य रामानुज ने भी 'श्रीभाष्य' में कहा है कि ध्यान, भक्ति तथा आत्मसमर्पण द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार संभव है।

इन विभिन्न विचारों के उपरान्त दैव प्रकाशना के सम्बन्ध में कई प्रश्न उठाये जाते हैं कि मानव को दैव प्रकाशना की आवश्यकता किस परिस्थिति में पड़ती है? क्या दैव प्रकाशना परीक्षणीय है? दैव प्रकाशना का स्वरूप क्या है?

जहाँ तक दैव प्रकाशना की आवश्यकता का प्रश्न है कहा जा सकता है कि मानव की दैव प्रकाशना की आवश्यकता जीवन में उपस्थित व्यावहारिक समस्याओं के आलोक में पड़ती है। मनुष्य मूलतः धार्मिक प्राणी है वह ईश्वर साक्षात्कार की तड़प कामना सदैव करता है। ईश्वरीय साक्षात्कार की तड़प उसमें सदैव बनी रहती है। दैव प्रकाशना मानव की इस व्यग्रता एवं तड़प का प्रतिफल है।

क्या दैव प्रकाशना परीक्षणीय है? इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि दैव प्रकाशना परीक्षणीय नहीं है क्योंकि हम केवल उन्हीं वस्तुओं को जान सकते हैं जो हमारी दृष्टि सीमा में विद्यमान है।

परीक्षणीय न होने पर भी दैवी प्रकाशना को भ्रामक नहीं सिद्ध किया जा सकता क्योंकि उसे भ्रामक मानना ईश्वर की आत्म प्रकाशन शक्ति को भ्रामक कहना है कोई भी व्यक्ति ईश्वर को पूर्णरूप से नहीं जान सकता क्योंकि वह अबाध है। वह तो केवल हमारी श्रद्धा का आधार है।

ईश्वर विभिन्न साधनों के माध्यम से अपने को प्रकाशित करता है ताकि मानव का मार्गदर्शन हो सके।

ईश्वर स्वयं किसी न किसी रूप में मानव के निर्देशन हेतु जगत में अवतार ग्रहण करता है जैसा कि गीता में कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्

ईश्वर सृष्टि द्वारा स्वयं को प्रकाशित करता है क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर की ही अभिव्यक्ति है।

ईश्वर स्वयं को धर्मशास्त्रों, वेद, उपनिषद्, कुरान बाइबिल आदि द्वारा भी स्वयं को प्रकाशित करता है

क्योंकि धर्म शास्त्र ईश्वरीय आदेशों का संकलन है।

ईश्वर कभी कभी आकाशवाणी, दिव्यस्वप्न, दिव्यदर्शन, संत तथा साधुओं के माध्यम से भी स्वयं को अभिव्यक्ति करता है।

देव प्रकाशना में ईश्वर की सत्ता को पूर्ण मान्यता के रूप में मानना अनिवार्य है। ईश्वर ही सत्तों का प्रकाशन करता है।

दैवी प्रकाशना की सत्यापनीयता तथा प्रमाणिकता का विचार करते समय एक प्रश्न उसके स्वरूप के बारे में भी उठता है। इस प्रकार के प्रश्न का औचित्य उस तथ्य से निर्धारित होता है कि एक ही श्रुति के अन्तर्गत परस्पर विरोधी कथन सम्मिलित रहते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि श्रुतियाँ या धर्मशास्त्र दैवी प्रकाशना के ज्ञान के साधन हैं इस प्रकार अनेक श्रुतियाँ या धर्मशास्त्र अपने अपने तरीकों से इसके स्वरूप की विवेचना करते हैं अतः इस प्रश्न का कोई न्यायोचित या एकांगी उत्तर अभी तक प्राप्त नहीं हो पाया है।

दैवी प्रकाशना के सम्बन्ध में उठने वाले अनेक प्रश्नों के समाधान का प्रयास धर्म दार्शनिकों एवं धर्मशास्त्रियों द्वारा किया गया है।

कभी कभी भ्रान्त धारणाओं के कारण कुछ लोग दैवी प्रकाशना का अनुभव प्राप्त करने का दावा करते हैं जिसके कारण वास्तविक दैवी प्रकाशना तथा अवास्तविक दैवी प्रकाशना के मध्य अन्तर कर पाना कठिन होता है। सामान्यतया दैवी प्रकाशना को मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों से परे अलौकिक अनुभूति माना जाता है इसलिए प्रत्यक्ष के द्वारा इसकी प्रमाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती।

5.3 सारांश

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि दैवी प्रकाशना तर्क, बुद्धि या इन्द्रियानुभव पर आधारित न होकर आस्था या श्रद्धा पर आधारित अवधारणा है ऐसा विश्वास किया जा सकता है कि ईश्वरीय कृपा प्राप्त करके ही सन्त या पैगम्बर के दिव्य चक्षुओं से ईश्वरीय सत्ता का साक्षात्कार किया जा सकता है बल्कि इसके विपरीत अगर किसी भौतिक प्रमाणिकता के आधार पर इसे सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है तो यह पूर्णतया भ्रामक या मिथ्या होगी। दैवी प्रकाशना केवल आस्तिकों को ही होती है नास्तिकों को नहीं। अतः यह स्मरणीय होगा कि दैवी प्रकाशना मिथ्या धारणा की स्थापना नहीं करते यदि कोई भी देवी प्रकाशना मिथ्याडम्बर या भ्रान्त धारणा का पोषण करती है तो वह भ्रामक देवी प्रकाशना होगी वास्तविक नहीं।

5.4 बोध— प्रश्न

1. दैवी प्रकाशना से आप क्या समझते हैं इसमें ईश्वर जैसी किसी सत्ता का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है?
2. दैवी प्रकाशना और तर्क बुद्धि में क्या अंतर है?

5.6 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्म दर्शन — डॉ. याकूब मसीह।
2. धर्म दर्शन की मूल समस्याएं— डॉ. वेद प्रकाश वर्मा।
3. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन— डॉ. शिव भानु सिंह।

इकाई : 6 रहस्यानुभूति

- 6.0 उद्देश्य
 - 6.1 प्रस्तावना
 - 6.2 धार्मिक अनुभूति
 - 6.3 धार्मिक अनुभव का क्षेत्र
 - 6.4 धार्मिक अनुभूति का महत्व
 - 6.5 समीक्षा
 - 6.6 रहस्यवाद
 - 6.7 भारतीय रहस्यवाद की विशेषताएं
 - 6.8 समीक्षा
 - 6.9 सारांश
 - 6.10 बोध— प्रश्न
 - 6.11 उपयोगी पुस्तकें
-

6.0 उद्देश्य

प्रायः विभिन्न धर्म में, उनके धर्म ग्रंथों में, सूफी मत, इत्यादि में रहस्य अनुभूति का वर्णन मिलता है। रहस्यवादी दार्शनिकों ने रहस्य अनुभूति को धार्मिक विश्वास का आधार माना है। रहस्यवाद को स्वीकार करने वाले प्रायः निर्गुण, निराकार, परम तत्व को स्वीकार करते हैं। रहस्यवाद में भगवान एवं साधक के बीच तादात्म्य जैसी बातें स्वीकार की जाती हैं।

इस इकाई के अंतर्गत हम या जानने का प्रयास करेंगे कि रहस्यवाद क्या होता है? रहस्यवाद धार्मिक अनुभूति के रूप में किस प्रकार अतीन्द्रिय सत्ता का ज्ञान प्राप्त करता है। रहस्यवाद का धार्मिक क्षेत्र में क्या भूमिका है? भारतीय एवं पाश्चात्य रहस्यवाद का स्वरूप क्या है एवं रहस्यवाद की कमियां क्या हैं?

6.1 प्रस्तावना

किसी अतीन्द्रिय या दैवी सत्ता पर पूर्व निर्भरता, उसके प्रति अखण्ड श्रद्धा, सम्मान, प्रेम आत्म समर्पण व पूजा की भावना धार्मिक अनुभव के अनिवार्य मूल तत्व हैं जो उसे अन्य सभी प्रकार के अनुभवों से पृथक् करते हैं और उसे विशेष प्रकार का अलौकिक अनुभव बताते हैं। यद्यपि धार्मिक अनुभव की कोई निश्चित और सर्वमान्य परिभाषा करना बहुत कठिन है। तथापि यह कहा जा सकता है कि अधिकतर दार्शनिकों के अनुसार भक्तों एवं धर्मपरायण व्यक्तियों को किसी अलौकिक या दैवी सत्ता का जो विशेष प्रकार का अनुभव प्राप्त होता है। उसे धार्मिक अनुभव की संज्ञा दी जा सकती है।

6.2 धार्मिक अनुभूति

एडोल्फ आटो ने अपनी पुस्तक “द आइडिया आफ होली” में इस धार्मिक अनुभव के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या की है।

आटो के अनुसार धार्मिक अनुभव में बौद्धिक एवं निर्बौद्धिक दोनों तत्व विद्यमान हैं। फिर भी इनमें निर्बौद्धिक तत्वों की प्रधानता होती है क्योंकि धार्मिक अनुभूति मूलतः विचारात्मक न होकर भावनात्मक होती है। धार्मिक अनुभव को अवर्णनीय कहा जा सकता है क्योंकि जो व्यक्ति इससे अपरिचित है उसे इसका ज्ञान ही नहीं कराया जा सकता। आटो के मतानुसार “यह अपूर्णनीयता धार्मिक अनुभव की अनिवार्य विशेषता है।”

जो तत्व धार्मिक अनुभव को अन्य सभी अनुभवों से अलग करता है जो इसका मूलतत्व है उसे आटो दिव्यतत्व या दिव्यानुभूति की संज्ञा देते हैं। यह दिव्यानुभूति वस्तुतः निर्बौद्धिक तत्व है इसे भाषा, विचार अथवा किसी अन्य माध्यम से पृथक् नहीं किया जा सकता। आटो के अनुसार इस अनुभूति में भय एवं श्रद्धायुक्त

बिस्मय, रहस्यात्मकता एवं प्रेममय तीव्र आकर्षण ये तीन तत्व अनिवार्यता समान रहते हैं।

धर्म परायण व्यक्ति अपने उपास्य विषय के प्रति एक विशेष प्रकार का धार्मिक संवेग का अनुभव करता है। जिसे भय व श्रद्धायुक्त विस्मय की संज्ञा दी जाती है। अपने आराध्य के समक्ष स्वयं को धूल या राख के समान तुच्छ समझता है। आराध्य की असीम शक्ति और महत्ता के कारण आराधक आश्चर्यचकित हो जाता है और उपास्य के प्रति भय व श्रद्धा से मिश्रित विस्मय का अनुभव करता है। उपासक, उपास्य विषय के स्वरूप को समझने में असमर्थ होने के कारण उसे अन्य सांसारिक विषयों से भिन्न पाता है और उपास्य उसे रहस्यमय प्रतीत होता है और सदा अबोधगम्य और रहस्यमय ही बना रहता है।

अबोधगम्य और रहस्यात्मक होते हुए भी यह आराध्य विषय उपासक को अपनी ओर अत्यधिक आकर्षित करता है, इस आकर्षण से प्रेरित होकर वह उपास्य से प्रेम करने लगता है। और अपने आपको उसके प्रति पूर्णतः समर्पित कर देता है।

6.3 धार्मिक अनुभव का क्षेत्र

धार्मिक अनुभव का क्षेत्र बहुत व्यापक है क्योंकि यह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मानव जीवन के सभी महत्वपूर्ण पहलुओं की प्रभावित करता है। सामान्यतः इस अनुभव को भावना प्रधान माना जाता है जो उचित ही है, किन्तु इसमें भावना के साथ-साथ ज्ञान और कर्म भी अवश्य विद्यमान रहते हैं। प्रत्येक भक्त या उपासक किसी दैवी सत्ता में अपने विश्वास को असंदिग्ध रूप से सत्य मानता है। उसके अनुसार विश्वास का संबंध दैवी सत्ता के ज्ञान से है। ज्ञान के साथ-साथ भावना का भी धार्मिक अनुभव में महत्वपूर्ण स्थान है। पुनश्च उपासक किसी दैवी सत्ता के अस्तित्व में केवल विश्वास नहीं करता अपितु उसकी पूजा करता है और अगाध प्रेम करता है। पूजा और समर्पण की इस भावना के अभाव में धार्मिक अनुभव का अस्तित्व ही संभव नहीं है।

धार्मिक अनुभव में पूजा और समर्पण की भावना की उपस्थिति के साथ-साथ विशेष कर्म के माध्यम से इसकी अभिव्यक्ति भी आवश्यक है। बाह्य कर्मकाण्ड के माध्यम से भक्त अपने को उपास्य विषय के साथ संबद्ध करता है। यही धार्मिक अनुभव का क्रियात्मक पक्ष है जो अन्य अनुभवों में नहीं पाया जाता अतः धार्मिक अनुभवों में भी ज्ञान भावना तथा क्रिया तीनों तत्व अनिवार्यतः उपस्थित हैं।

धार्मिक अनुभव की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें इन्द्रियजन्य अनुभव, सौन्दर्यात्मक अनुभव तथा नैतिक अनुभव इन तीनों का समुचित समाधान रहता है। इन्द्रियजन्य अनुभव के द्वारा उपासक पवित्र धर्म ग्रन्थों, मूर्तियों या अन्य धार्मिक वस्तुओं को देखता है एवं प्रार्थना व कीर्तन में प्रयुक्त शब्दों व संगीत की ध्वनि सुनता है। इन्द्रियजन्य अनुभव के अभाव में न तो धार्मिक अनुभव की अभिव्यक्ति संभव है और न ही वह हमारे लिए बोधगम्य हो सकता है। सौन्दर्यात्मक अनुभव में भक्त अपने उपास्य विषय से संबद्ध सभी क्रियाओं को सुंदर देखना चाहता है और उन्हें अधिकाधिक आकर्षक और मोहक बनाने का प्रयास करता है। नैतिकता धर्म का अनिवार्य तत्व है। जब भक्त नैतिक नियमों व आदर्शों के अनुरूप आचरण करता है तो उसे विशेष आत्मसंतोष का अनुभव होता है।

6.4 धार्मिक अनुभूति का महत्व

धार्मिक अनुभूति स्वयं सिद्ध होती है। धार्मिक अनुभूति कई रूपों में उपलब्ध होती है। तीव्र एवं समृद्ध होने पर अनुभववादी रूप धारण कर लेती है। प्रत्येक धार्मिक अनुभूति में रहस्यवादी तत्व उपस्थित रहता है। अतः धार्मिक अनुभूति स्वरूपतः रहस्यात्मक होती है। धार्मिक अनुभूति का चरमोत्कर्ष रहस्यानुभूति है। आरंभ धार्मिक अनुभूति से होता है और अंत रहस्यानुभूति होता है। इस स्थिति में जो सत्ता हमारी अनुभूति में परिणत हो जाती है। धार्मिक अनुभूति के चरमोत्कर्ष में अनुभूत अनुभाविता का द्वैत समाप्त हो जाता है। वस्तुतः रहस्यानुभूति और धार्मिक अनुभव एकदम भिन्न नहीं वरन इस का विकास है। विलियम जेम्स के अनुसार “धार्मिक अनुभूति रहस्यात्मक चेतना पर अभिभूत एवं केन्द्रित है।”

स्पष्ट है कि धार्मिक अनुभूति का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। एक ओर यह सर्वेश्वरवादी तथा तीव्र रहस्यवादी अनुयायियों के रूप में तथा दूसरी ओर सीमित एवं साधारण मर्मज्ञता के रूप में प्रकट होती है अतः ईश्वर प्राप्ति हेतु अनिवार्य है।

धार्मिक अनुभूति की ईश्वर साक्षात्कार में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। धार्मिक अनुभूति का चरम लक्ष्य

सामान्यतः ईश्वरानुभूति ही है। (निरीश्वरवादी धर्मों को छोड़कर) रहस्यानुभूति धार्मिक अनुभूति का ही पूर्णतयः विकसित और गहन रूप है। स्वयं रहस्यवादी भी कहता है कि उसे परम तत्त्व ईश्वर का साक्षात् अनुभव होता है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं है कि एक रहस्यवादी ईश्वर को प्राप्त कर सकता है।

वेदान्त के तत्वमसि के अनुसार साधक परमतत्त्व में विलीन हो जाता है। ईश्वर वादियों के अनुसार भक्त स्वयं को ईश्वर को समर्पित कर देता है। ईसाई रहस्यवाद के अनुसार उपासक ईश्वर से संबंधित हो जाता है। इस्लामिक अनुभववाद के अनुसार मनुष्य ईश्वर प्राप्त कर लेता है तब उसी के अनुसार कार्य करता है। यह सभी उदाहरण एक रहस्यवादी द्वारा ईश्वर प्राप्ति के विविध रूपों को दर्शाते हैं।

किंतु धार्मिक अनुभूति में ईश्वर साक्षात्कार अनिवार्यतः हो यह आवश्यक नहीं। अनिवार्यता तभी होगी जब वह ईश्वरवादी रहस्यवादी हो। ऐसी भी अनुभूति संभव है जिसमें ईश्वर की अनुभूति न हो, यथा बौद्ध तथा जैन रहस्यवाद। इस प्रकार निरीश्वरवादी धर्म में धार्मिक अनुभूति तो संभव है किंतु ईश्वर से साक्षात्कार अनिवार्यतः संभव नहीं।

6.5 समीक्षा

उपर्युक्त सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि एक ओर तो वह दिव्यानुभूति को ऐसा निर्बोद्धिक तत्त्व मानते हैं जिसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है और दूसरी ओर वे इस तत्त्व का सविस्तार वर्णन भी करते हैं जिसमें उनके विचारों में असंगति आ जाती है। दूसरी आलोचना यह है कि जिन भावनाओं को वे धार्मिक अनुभव की अनिवार्य मूल विशेषताएं मानते हैं वे मनुष्य की सामान्य अनुभव के साथ भी संबद्ध हो सकती है। पुनः मनुष्य की व्यक्तिनिष्ठा धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर की वस्तुनिष्ठ सत्ता और उसके विशेष स्वरूप का जो दावा किया है, वह उचित एवं युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

इन आलोचनाओं के बावजूद कुछ समकालीन दार्शनिकों ने धार्मिक अनुभव के विषय में आटो के इस निष्कर्ष को वास्तविक अर्थ में स्वीकार किया है कि यह अनुभव अवर्णनीय है। जिसमें विटेंगस्टाइन एवं मैकफरसन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। धार्मिक अनुभव के विषय में “ट्रेक्टेटस लाजिकों फिलासाफिकस” में विटेंगस्टाइन का मत है कि यह अनुभव रहस्यात्मक होने के कारण वस्तुतः अवर्णनीय हो इसका संबंध ऐसी रहस्यात्मक सत्ता से है जिसके विषय में सार्थकता पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। थामस मैकफरसन भी यह मानते हैं कि धर्मविषयक कुछ बातों के संबंध में हमारे लिए मौन रहना ही एकमात्र उचित विकल्प है क्योंकि उनके विषय में हम कुछ कह नहीं सकते।

किन्तु यहां कठिनाई यह है कि ऐसी स्थिति में धार्मिक अनुभव को धर्मदर्शन की परिधि से परे मानना पड़ेगा, जिसके कारण इस अनुभव के स्वरूप की व्याख्या और उनकी प्रामाणिकता की व्याख्या करना संभव नहीं होगा।

6.6 रहस्यवाद

प्राचीन काल से सभी धर्मों के महान संत यह दावा करते हैं कि उन्होंने जीवन से ऐसा अनुभव प्राप्त कर लिया है जो सांसारिक अनुभव से नितान्त भिन्न है। इसी कारण उसे रहस्यात्मक अनुभव कहा जा सकता था। रहस्यवाद का संबंध उनके इसी अनुभव से है। उनके अनुसार यह ऐसा अनुभव है जिसके विषय में कुछ भी कहना संभव नहीं है अर्थात् रहस्यवाद वह स्थिति है जिसमें पहुंचकर मनुष्य मौन रहने के अतिरिक्त और कुछ ही नहीं कर सकता क्योंकि वह भाषा के माध्यम से इसे अभिव्यक्त करने में स्वयं को असमर्थ पाता है।

रहस्यवाद को स्पष्ट करते हुए केयर्ड ने कहा कि रहस्यवाद मन की वह प्रवृत्ति है जिसमें सभी प्रकार का संबंध (आत्मा और ईश्वर) के संबंध विहीन हो जाता है। प्रो0 ब्राइटमैन ने इसे दैवीय सत्ता की अपरोक्षानुभूति कहा है, एडोल्फ आटो ने इसे विलक्षण तथा अपने आप में अनूठा कहा है। उपनिषद् ने इसके बारे में नेति-नेति कहा है, उपनिषद् ने इसके बारे में नेति-नेति को ही साधन बताया।

रहस्यवाद की परंपरा सभी भारतीय धर्मों के अतिरिक्त मुस्लिम, ईसाई आदि पाश्चात्य दर्शनों में दिखलाई पड़ती है। इन सभी धर्मों के अनेक महान संतों को रहस्यवादी कहा जाता है, यद्यपि उपनिषद्, योग संबंधी साहित्य, बौद्ध ग्रन्थों, सूफी साहित्य एवं ईसाई धर्म के साहित्य में रहस्यवाद का विस्तृत वर्णन मिलता है। किंतु भारतीय एवं पाश्चात्य रहस्यवाद में महत्वपूर्ण अंतर परिलक्षित होते हैं।

6.7 भारतीय रहस्यवाद की विशेषताएं

भारतीय रहस्यवाद, उपनिषदीय रहस्यवाद कहलाता है, जिसकी महत्वपूर्ण विशेषताएं निम्नवत हैं—

भारतीय रहस्यवाद में साधक और ईश्वर दोनों एक हैं मनुष्य और ईश्वर दो अलग-अलग अर्थात् द्वैत नहीं है अपना ज्ञान होना ही ईश्वर को प्राप्त करना है। मनुष्य को अपनी चेतना होना ही ईश्वर को प्राप्त करना है। जब साधक ईश्वर और स्वयं को एक समझ लेता है तो वह ईश्वर को प्राप्त कर लेता है।

भारतीय रहस्यवाद में अविद्या को ईश्वर साक्षात्कार में बाधक और गुरु को सहायक माना है। अविद्या को दूर करना ही ईश्वर को प्राप्त करना है। अविद्या का तात्पर्य ईश्वर को अपने से अलग समझना है। गुरु के द्वारा ही हम अविद्या से दूर हो सकते हैं। यह गुरु की महान शक्ति से प्राप्त होता है। गुरु अपनी आत्मिक शक्ति द्वारा शिष्य को ऊपर उठाता है, ईश्वर को प्राप्त करना उसका लक्ष्य है।

भारतीय परंपरा में प्रत्येक गुरु ने अलग-अलग ढंग से ईश्वर को प्राप्त करने की अवस्थाएं बतलायी हैं इन अवस्थाओं का निश्चित मापदंड नहीं है, यहां बुद्ध एवं पतंजलि द्वारा ईश्वर को प्राप्त करने की अवस्थाओं का वर्णन महत्वपूर्ण है। भारतीय रहस्यवाद को स्पष्ट करने हेतु इनका वर्णन अपरिहार्य है। बुद्ध ने चार अवस्थाएँ बतायी हैं —

1. संसार की भौतिक इच्छाओं अथवा अशुभ से विरक्त हो।
2. लगातार हर समय सन्यासी के रूप में रहना।
3. पुनः विरक्त हुए सन्यासी के रूप में रहना।
4. मानसिक क्रियाओं को एकत्रित करना एवं ध्यान लगाना।

इन सभी अवस्थाओं की प्राप्ति के बाद निर्वाण प्राप्त हो जायेगा अर्थात् भक्त ईश्वर सदृश हो जायेगा।

पतंजलि ने ईश्वर को योग द्वारा प्राप्त करने को कहा है। इसके लिए उन्होंने समाधि की अवस्था का चित्रण किया है। इस अवस्था में मन अपने ध्येय विषय में पूर्णतयः लीन हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसको अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है, आत्मा या नामधारी व्यक्ति स्वूमतैमस अपने वास्तविक स्वरूप भ्रहीमतैमसि को पहचान लेती है और मोक्ष को प्राप्त करती है।

6.8 समीक्षा

भारतीय रहस्यवाद की उपर्युक्त विशेषताओं पर पाश्चात्य रहस्यवादियों ने आपत्ति प्रगट की है, भारतीय और पाश्चात्य रहस्यवादियों के दृष्टिकोण में अंतर होने के फलस्वरूप पाश्चात्य रहस्यवादियों ने आरोपलगाया कि भारतीय रहस्यवाद केवल अपने आप से संबंध रखता है, यहां पर प्रत्येक मनुष्य अपने निर्माण की प्राप्ति के बारे में सोचता है न कि समाज के बारे में। भारतीय रहस्यवादी स्वार्थवादी है सामाजिक नहीं क्योंकि यह व्यक्तिगत उन्नति में सहायक है।

पुनश्च स्वयं को ईश्वर के आधीन करना अथवा गुरु आधीन होना निष्क्रियता का परिचायक है। रहस्यवादी अपने ऊपर विश्वास न करके ईश्वर पर विश्वास करता है। यहां रहस्यवादी ईश्वर के ऊपर सभी इच्छाओं और कार्यों को छोड़कर अकर्मण्य हो जाता है। जहां तक नैतिकता का प्रश्न है साधक सामाजिक नैतिकता के विषय में विचार नहीं करता है।

वस्तुतः पाश्चात्य रहस्यवाद का आधार ईसाई धर्म का धर्मग्रंथ बाइबिल है, और उसी के अनुरूप आचरण किया जाता है। पाश्चात्य रहस्यवाद के अनुसार ईसामसीह के गुणों के आधार पर चलना चाहिए, उनके अनुसार ईसामसीह को प्राप्त करना ईश्वर को प्राप्त करना है। भारतीय रहस्यवाद से भिन्न इसमें ईश्वर से एक होना नहीं बताया गया है। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करना और ईश्वर से संबंध रखना बताया गया है ताकि हमारा नैतिक जीवन सुधर सके। संत मास्टर एकहर्ट के अनुसार “आत्मा आत्मा है ईश्वर, ईश्वर है। हम मनुष्य की आत्मा ईश्वर से एक नहीं है।”

जहां तक ज्ञान का प्रश्न है ईश्वर का ज्ञान तभी संभव है, जब हम ईश्वर मार्ग पर चलें। मनुष्य को अपना जीवन सुधारना चाहिए, तब वह ईश्वर से संबंध रख सकता है। स्वयं को अथवा अपने मन को बाहरी जगत से अलग करना और अशुभ से दूर रहना।

पाश्चात्य रहस्यवादियों ने ध्यान पर विशेष बल दिया है। साधक को स्वयं के बारे में ध्यान करके अपनी खराबियों को दूर करके ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। ईश्वर साक्षात्कार के विषय में रहस्यवादियों का मत है कि ईसा मसीह को देखना, ईसा मसीह को प्राप्त करना है।

मुस्लिमों ने अपने रहस्यवाद का नाम सूफीज रखा, मुस्लिम रहस्यवाद की अंतिम परिणति फना है। सूफीज शब्द का तात्पर्य खुदा में एक हो जाना है। सूफीज कहते हैं “ हमें सत्य अर्थात् ईश्वर की खोज करना है। जिस तरह नदी का जल ममुद्र में जाकर अपना अस्तित्व समाप्त कर लेता है, उसी तरह हमें अपनी रूह खुदा में एक करना है अर्थात् फना करना है।

फना तक पहुंचने के लिए इस्लाम में भी ईश्वर मार्ग बताया गया है, जो तरीका कहलाता है। तरीका ईश्वर तक पहुंचने का मार्ग है। ईश्वर मार्ग की विभिन्न अवस्थाएं तौबा, तर्क ए दुनिया, फकीरी, मुहब्बत, इश्क, तजली, है। इन सभी अवस्थाओं के पश्चात् ईश्वर का ज्ञान होगा जो मुस्लिम में मार्फत कहलाता है। ईश्वरी ज्ञान हो जाने के बाद हम और ईश्वर एक हो जाते हैं अर्थात् फना हो जाते हैं। जो वह ईश्वर करेगा हम करेंगे, जिस व्यक्ति की आत्मा यहां तक पहुंचती है वह सूफी कहलाता है।

6.9 सारांश

इस प्रकार भारतीय, ईसाई एवं मुस्लिम रहस्यवाद के उपर्युक्त वर्णन से प्राच्य एवं पाश्चात्य रहस्यवाद में अंतर स्पष्ट होता है। स्पष्ट है कि भारतीय रहस्यवाद में मनुष्य अपने को ईश्वर समझता है और अविद्या को ईश्वर से अलग होने का कारण मानता है। जबकि मुस्लिम एवं ईसाई रहस्यवाद में ऐसा नहीं है। ईसाई रहस्यवाद अपने को ईश्वर से एक नहीं मानता है, मुस्लिम रहस्यवाद के अनुसार हमको ईश्वर में एक होना है, हमको स्वयं को ईश्वर में मिटाना है।

भारतीय रहस्यवाद में जितनी अवस्थाएं हैं उनका संबंध उनके धर्म ग्रन्थों, वेद, उपनिषद, आदि में है। मुस्लिम में सूफी, कुरॉन से अलग है। सुफी मुस्लिम नहीं होते, मुस्लिम सूफी होते हैं। ईसाई भी पूर्ण रूपेण बाइबल पर आश्रित नहीं होते। पाश्चात्य में साधक जगत से विरक्त नहीं होता है। जबकि भारतीय रहस्यवाद में जगत से विरक्त होने को कहा गया है, इस्लामिक रहस्यवाद में बाह्य दुनिया में रहकर दुनिया की तरक्की करना चाहता है। तथापि धर्म से संबंधित अलौकिक अनुभूति सामान्यतः सभी में समान रूप से पायी जाती है जो इन सभी को रहस्यवादी बनाती है और धार्मिकता का चरम बिन्दु है।

6.10 बोध— प्रश्न

1. धार्मिक अनुभूति का स्वरूप किस प्रकार का होता है समझाइए।
2. रहस्य अनुभूति से आप क्या समझते हैं विवेचना कीजिए।
3. धार्मिक अनुभूति एवं रहस्य अनुभूति की कमियों का वर्णन कीजिए।

6.11 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्म दर्शन – डॉ याकूब मसीह।
2. धर्म दर्शन की मूल समस्याएं— डॉ वेद प्रकाश वर्मा।
3. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन— डॉ शिव भानु सिंह।

खण्ड—3 ईश्वर का स्वरूप

खण्ड परिचय

धर्म दर्शन के इतिहास का अवलोकन करने से पता चलता है कि यद्यपि ईश्वर को अधिकांश धर्मों में केन्द्रीय स्थान प्रदान किया गया है फिर भी कुछ ऐसे धर्म स्थापित हुए हैं जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं इस व्यापक दृष्टि से धार्मिक दर्शन का वर्गीकरण ईश्वरवाद तथा अनीश्वरवादी के मध्य किया गया – ईश्वरवाद के अन्तर्गत निम्नलिखित सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है-

1. एकेश्वरवाद 2. केवल निमित्तेश्वरवाद 3. अनेकेश्वरवाद 4. सर्वेश्वरवाद द्वैतवाद 5. निमित्तोपादानेश्वरवाद।

यह जगत एक विशाल यन्त्र के समान है, जो ईश्वर द्वारा निमित्त बौद्धिक प्राकृतिक नियमों के आधार पर संचालित होता है। जगत की समस्त वस्तुतः, घटनाएं तथा कार्य प्रणालियों की व्याख्या केवल इसी प्राकृतिक नियमों द्वारा की जा सकती है। एक बार उन नियमों का निर्माण करने के उपरान्त ईश्वर इनमें कोई संशोधन या परिवर्तन नहीं करता। स्पष्टता इसका अर्थ है कि तटस्थेश्वरवाद इस जगत में उन धार्मिक समत्कारों की संभावना को अस्वीकार करता है, जिनमें अधिकतर धर्म परायण व्यक्ति विश्वास करते हैं।

ईश्वर एवं जगत के सम्बन्ध में सर्वेश्वरवाद पूर्ण तादात्म्य में विश्वास करता है अर्थात् ईश्वर तथा जगत दोनों अभिन्न हैं। ईश्वर जगत के कण-कण में व्याप्त है, अतः इन दोनों की भिन्नता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जगत की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें ईश्वर विद्यमान न हो। जगत मूलतः ईश्वर का ही रूप है ईश्वर ही अपने आप को इस जगत को विभिन्न वस्तुओं में अभिव्यक्त करता है।

ईश्वरवाद का समर्थन भारतीय एवम् पाश्चात्य दोनों चिन्तनों में मिलता है। भारतीय परम्परा में मुख्यतः वैष्णव वेदान्ती रामानुज बल्लभाचार्य माधवाचार्य इसका समर्थन करते हैं साथ ही वेद, उपनिषद् तथा गीता में भी ईश्वरवाद पर प्रकाश पड़ता है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म, जगत एवम् आत्मा की वास्तविक सत्ता स्वीकार की गई है ईश्वर का अंश जगत है जगत विशेषण है ईश्वर विशेष है साथ ईश्वर जगत की अंतर्धामी आत्मा है अर्थात् जगत में व्याप्त है। ईश्वर ही कार्य रूप में जगत में परिवर्तित है।

इकाई-7 निमित्तेश्वरवाद

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 केवल निमित्तेश्वरवाद

7.3 केवल निमित्तेश्वरवाद (देववाद) की आलोचना

7.4 निष्कर्ष

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई में ईश्वर एवं जगत के मध्य सम्बन्ध तथा ईश्वर की अवधारणा सम्बन्धी एक मत निमित्तेश्वरवाद। देववाद। तटस्थेश्वरवाद की विस्तृत विवेचना करता है। इस ईकाई में इस मत की विभिन्न रूपों में चर्चा की गयी है, साथ ही यह अपने स्वरूप में किस हद तक सफल हुआ है का आलोचनात्मक विवेचन भी किया गया है।

7.1 प्रस्तावना

सामान्यतया साधारण बोलचाल की भाषा में धर्म का अर्थ ईश्वर माना जाता है तथा इसी परिप्रेक्ष्य में ही धार्मिक शब्द का अर्थ ईश्वर में विश्वास करने वाले से लिया जाता है परन्तु विभिन्न धर्मों के स्वरूप तथा धर्म दर्शन के इतिहास का अवलोकन करने से पता चलता है कि यद्यपि ईश्वर को अधिकांश धर्मों में केन्द्रीय स्थान प्रदान किया गया है फिर भी कुछ ऐसे धर्म स्थापित हुए हैं जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं इस व्यापक दृष्टि से धार्मिक दर्शन का वर्गीकरण ईश्वरवाद तथा अनीश्वरवादी के मध्य किया गया – ईश्वरवाद के अन्तर्गत निम्नलिखित सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है- 1. एकेश्वरवाद 2. केवल निमित्तेश्वरवाद 3. अनेकेश्वरवाद 4. सर्वेश्वरवाद द्वैतवाद 5. निमित्तोपादानेश्वरवाद। प्रस्तुत ईकाई में केवल निमित्तेश्वरवाद पर विस्तृत चर्चा की गयी है जो अधोलिखित है -

7.2 केवल निमित्तेश्वरवाद

'Deism' शब्द लैटिन भाषा के 'Deus' शब्द से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है-ईश्वर, अतः 'डीज्म' शब्द का तात्पर्य भी 'ईश्वरवाद' है इस सिद्धान्त को प्रायः देववाद या तटस्थ ईश्वरवाद के रूप में भी वर्णित किया जाता है। यह सिद्धान्त निरीश्वरवाद या अनीश्वरवाद का घोर विरोधी है। अनीश्वरवाद के विपरीत इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ईश्वर की सत्ता में विश्वास किया जाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दी में कई पाश्चात्य विचारकों द्वारा किया गया, जिनमें प्रमुख नाम निम्न है - जान टोलैण्ड (John Tolond), टिंडल (Tindal), चब(Chub) तथा चरबरी के हर्बर्ट। भारतीय दर्शन में इस सिद्धान्त का उल्लेख अधिकृत रूप से किसी भी दार्शनिक या धार्मिक सम्प्रदाय में नहीं किया जा सकता ऐसी मान्यता है कि न्यूटन, लैपलेस तथा डार्विन के धार्मिक दृष्टिकोण पर यह सिद्धान्त आधारित है।

यह सिद्धान्त पूर्णतः बौद्धिक दृष्टिकोण के आधार पर ईश्वर तथा जगत के सम्बन्ध व्याख्या करता है इसके अनुसार ईश्वर जगत का रचयिता अवश्य है, किन्तु एक बार इसकी रचना करने के पश्चात वह उसकी कार्यप्रणाली में कभी किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता। यह जगत एक विशाल यन्त्र के समान है, जो ईश्वर द्वारा निमित्त बौद्धिक प्राकृतिक नियमों के आधार पर संचालित होता है। जगत की समस्त वस्तुतः, घटनाएं तथा कार्य प्रणालियों की व्याख्या केवल इसी प्राकृतिक नियमों द्वारा की जा सकती है। एक बार उन नियमों का निर्माण करने के उपरान्त ईश्वर इनमें कोई संशोधन या परिवर्तन नहीं करता। स्पष्टता इसका अर्थ है कि तटस्थेश्वरवाद इस जगत में उन धार्मिक समत्कारों की संभावना को अस्वीकार करता है, जिनमें अधिकतर धर्म परायण व्यक्ति विश्वास करते हैं। इस सिद्धान्त के समर्थकों का चला है कि धार्मिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ईश्वर स्वयं अपने बनाये हुए प्राकृतिक नियमों का कभी उल्लंघन नहीं करता। ऐसी स्थिति में उस प्रार्थना का भी कोई महत्व नहीं है, जो चमत्कार उत्पन्न करने के लिए ईश्वर से की जाती है। विश्वसनीय होने के कारण ईश्वर मनुष्य के लिए पूर्णतः अगम्य है वह अपनी प्रार्थना द्वारा ईश्वर को प्रभावित नहीं कर सकता। इस प्रकार निमित्तेश्वरवाद सामान्य अर्थ में प्रार्थना की प्रभावशीलता तथा उपादेयता का भी निषेध करता है।

इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर ने किसी काल विशेष में अपनी इच्छा के अनुसार विश्व की रचना की ईश्वर पूर्ण शाश्वत, असीम सर्वशक्तिमान, सर्वस्व तथा निरपेक्ष व्यक्तित्व पूर्ण सत्ता है। ईश्वर ने विश्व की रचना करके इसे स्वतंत्र छोड़ दिया तथा कभी हस्तक्षेप नहीं करता। ईश्वर ने मनुष्य को संकल्प की स्वतंत्रता प्रदान की है तथा वह शुभ तथा पूर्णता की ओर विकास करने में समर्थ है। केवल निर्मितेश्वरवाद या देववाद के अनुसार ईश्वर परम चेतन है। तथा वह संसार का निमित्त कारण है ईश्वर ने संसार की रचना किसी जड़ पदार्थ से नहीं की है इसलिए इस संसार का कोई उपादान कारण नहीं है। इस सिद्धांत के अनुसार जगत की रचना किसी कल विशेष में हुई है।

केवल निमित्तेश्वरवाद में सृष्टि को प्रयोजन विहीन नहीं माना गया है अपितु ईश्वर ने जगत की रचना इसलिए की है जिससे कि भिन्न-भिन्न प्राणियों तथा पदार्थों को सुख की प्राप्ति हो इस मत के अंतर्गत ईश्वर को व्यक्तित्व पूर्ण माना गया है। ईश्वर श्रृष्टि में अंतर्यामी नहीं है, वह जगत में व्याप्त नहीं है, ईश्वर विश्वतीत है, वह जगत से परे है। जगत की यांत्रिक व्यवस्था करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार यंत्र कार्य यंत्र की रचना करके उससे अलग है जाता है उसी प्रकार ईश्वर भी सृष्टि की रचना करने के बाद स्वयं तटस्थ हो जाता है। वह जगत की गतिविधियों में हस्तक्षेप नहीं करता है वह जगत का रचयिता तो है परंतु पालन करता और संहारकर्ता नहीं है। थॉमस एक्विनास का उल्लेख करते हुए हम कर सकते हैं कि ईश्वर अतीत और अज्ञेय है। ऐसा उन्होंने सम्यानुमान सिद्धांत का प्रयोग करते हुए कहा है। ईश्वर के विश्वातीत होने के कारण इसे अनुपस्थित तथा प्रवासी जमीदार Absent landlord की संज्ञा दी गई है।

ऐसा माना जाता है कि केवल निमित्तेश्वरवाद की स्थापना सर्वप्रथम अंग्रेज धर्म दार्शनिक हार्बर्ट ऑफ चरबरी ने की जिनका मतव्य है कि से स्वतंत्र प्राकृतिक धर्म है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपनी तर्क बुद्धि अथवा प्रकृति प्रदत्त ज्योति द्वारा जान सकता है। उनकी धारणा है कि धर्म तथा नैतिक कर्तव्यों के मध्य अपरिथक संबंध है तथा प्राकृतिक ज्योति के माध्यम से प्रत्येक मनुष्य अपना धर्म तथा व्यवहारिक जीवन संबंधी कर्तव्य निर्धारित कर सकता है Moral Valves and the idea of God' नामक पुस्तक में सोरले ने सैमुअल क्लार्क के मत का उल्लेख करते हुए केवल निमित्तेश्वरवाद के चार वर्षों का विवरण प्रस्तुत किया-

1. कुछ देववादियों या केवल निमित्तेश्वरवादियों को मान्यता है कि ईश्वर अतीत स्वतन्त्र, शाश्वत तथा सर्वोच्च सत्ता है जिसने सृष्टि की रचना की है, परन्तु ये मानते हैं कि ईश्वर सृष्टि के बाद विश्व के पालन तथा संचालन से तटस्थ रहता है।
2. उपरोक्त मान्यता में यह जोड़ते हुए कुछ देववादी कहते हैं कि ईश्वर कभी - कभी विश्व की कुछ घटनाओं का निरीक्षण करता है तथा ईश्वर कुछ दूर तक विश्व का चालक कहा जा सकता है।
3. उपरोक्त दोनों मान्यताओं के साथ-साथ कुछ देववादी ईश्वर में नैतिक गुणों की पूर्णता का समावेश भी करते हैं। ईश्वर को नैतिक दृष्टि से पूर्ण माना जाता है।
4. कुछ देववादियों की यह भी धारणा है कि ईश्वर के प्रति मनुष्यों का भी कुछ कर्तव्य है तथा ईश्वर उन्हीं कर्मों के अनुसार पुरस्कृत या दण्डित करता है।

उपरोक्त उल्लिखित चार वर्षों में से प्रथम दो को देववाद का प्राकृतिक रूप मान सकते हैं, परन्तु यह मानना कि ईश्वर प्राकृतिक घटनाओं में हेरफेर करता है, उसकी पूर्णता की धारणा के साथ सुसंगत नहीं है ऐसा मानना ईश्वर को सृष्टिकर्ता के स्थान पर शिल्पकार के रूप में मानना है, जबकि देववाद में यह स्वीकार किया जाता है कि विश्व की रचना के बाद ईश्वर इसमें कोई भी हस्तक्षेप नहीं करता है।

धर्म के क्षेत्र में केवला निमित्तेश्वरवाद के कई उल्लेखनीय योगदान हैं। इसने प्राकृतिक आत्म ज्योति तथा सहजतर्क बुद्धि को स्वीकार करके श्रृति के नाम पर स्थापित अनेक धार्मिक अन्ध विश्वासों व रुढ़ियों का प्रबल प्रतिवाद किया। इस सिद्धान्त ने तर्कणातीत अथवा अबौद्धिक ईश्वर दर्शन के स्थान पर प्राकृतिक अथवा बुद्धिद्वरक ईश्वर मीमांसा की स्थापना की। इसी प्रकार केवल निमित्तेश्वरवाद का यह प्रयास था कि धर्म तथा विज्ञान के बीच की खाई को जितना कम किया जा सके, वही दर्शन के हित में है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त ने यह प्रतिपादित किया कि ईश्वर विश्वातीत है तथा जगत की प्राकृतिक घटनाओं में कोई हस्तक्षेप नहीं करता है। डा० याकूब मसीह ने लिखा है कि केवल निमित्तेश्वरवाद के अनुसार विश्व की सुबोधता (Intelligibility) तथा तर्क बुद्धिगम्यता (Rationality) वैज्ञानिक अभ्युपगमों (assumptions) को धार्मिक शास्त्र (Sancitism) तथा समर्थन प्राप्त होता है। इस सिद्धांत द्वारा वैज्ञानिक खोज को पुनीत कर्तव्य बनाकर उसके प्रति विशेष उत्प्रेरणा दी जाती है।

केवल निमित्तेश्वरवाद जगत की स्वतन्त्र सत्ता की स्वीकार करता है तथा यह प्रतिपादित करता है कि जड़ पदार्थों को ईश्वर की अपेक्षा नहीं होती है। उनमें प्रचुर भौतिक शक्ति अन्तर्गत है तथा वे स्वतः परिचालित होते रहते हैं। यह सिद्धान्त घड़ी तथा घड़ी साज की तरह का सम्बन्ध

सृष्टि तथा ईश्वर के बीच मानता है। सामान्यतया जगता अपने आप परिचालित होता रहता है, परन्तु जब विश्व में अत्यधिक गड़बड़ी होती है तब ईश्वर विश्व प्रक्रिया में हस्तक्षेप करता है। यह हस्तक्षेप अपवादस्वरूप ही होता है, इसलिए इसे अलौकिक चमत्कार (Supernatural mirade) कहा जाता है।

यह सिद्धिन्त मानव की इच्छा स्वातन्त्र्य (Freedom of wil का प्रतिपादन करता है। मनुष्य को आशावाद की भावना से ओत पोत माना जाता है। वह अपनी इच्छानुसार कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है। मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों के कारण स्वभाव से ही नित्यता पूर्णता एवं अनन्तता की कामना करता है। ईश्वर ने मनुष्य को प्राकृतिक ज्योति प्रदान की है जो मनुष्य को उसके नैतिक कर्तव्य का ज्ञान कराती है। मनुष्य स्वभावतः शुभ है परन्तु संयोग वश किसी अशुभ सत्ता से प्रभावित होकर कार्य करता है।

7.3 केवल निमित्तेश्वरवाद (देववाद) की आलोचना

1. इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर ने शून्य से विश्व की रचना की जबकि ऐसा मानना सुसंगति पूर्ण नहीं लगता। शून्य के द्वारा नाना प्रपंचात्मक भेदयुक्त तथा विविधताओं से सम्पन्न विश्व की रचना संभव नहीं प्रतीत होती है। ऐसा माना जाता है कि शून्य से शून्य की ही उत्पत्ति होती है। जिस वस्तु का अभाव है उसका भाव संभव नहीं है।

गीता में कहा गया है - नास्तो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः

2. देववाद में यह प्रतिपादित किया गया है कि ईश्वर काल विशेष में जगत की रचना करता है परन्तु प्रश्न यह उठाया गया है कि ईश्वर ने सृष्टि की रचना उससे पहले क्यों नहीं की ? या सृष्टि की रचना क्यों की ? यदि किसी विशेष कारण वश या विवशतावश ईश्वर सृष्टि की रचना करता है तो क्या ऐसे ईश्वर को पूर्ण ईश्वर माना जा सकता है। यदि उसमें अभाव तथा आवश्यकता है तो क्यों ऐसे ईश्वर को पूर्ण ईश्वर माना जा सकता है यदि उसमें ही अभाव तथा आवश्यकता है तो क्या उसकी पूर्णता असिद्ध नहीं हो जाती है ? देववादियों के पास इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर नहीं है।
3. देववाद में ईश्वर तथा विश्व के मध्य उसी प्रकार का सम्बन्ध माना गया है, जैसा सम्बन्ध घड़ी साज तथा बड़ी के बीच होता है या किसी यंत्रकार और मशीन के बीच इस सिद्धांत के अंतर्गत ईश्वर की कल्पना मानवीय रूप में की गई है। इसलिए समीक्षकों की दृष्टि में यह सिद्धांत ईश्वर मानवीकरण के द्वेष से ग्रसित हो जाता है।
4. केवल नितेश्वरवाद में सृष्टि को ईश्वर की सर्वोत्तम कृति माना जाता है तथा सृष्टि का प्रयोजन सांसारिक प्राणियों को सुख प्रदान करना है। परंतु प्रश्न यह उठता है कि संसार में अशुभ, दुख, सुख आदि क्यों हैं? अशुभ की उत्पत्ति किसने की? इस समस्या के समाधान के लिए केवल नितेश्वरवादियों ने युक्ति प्रदान करते हुए कहा है कि नैतिक विकास के लिए दुख, दैत्य, पाप तथा असुख का होना परम आवश्यक है। इसी प्रकार कुछ विचारकों के अनुसार मानव की इच्छा की स्वतंत्रता के दुरुपयोग के कारण संसार में अशुभ तथा दुख है लेकिन उल्लेखनीय है कि अनेक ऐसी प्राकृतिक अशुभ घटनाएं होती हैं जिसका कारण मानवीय कर्म नहीं माना जा सकता है कुछ देववादियों ने अशुभ की समस्या के समाधान का प्रयास करते हुए कहा है कि इस संसार में अशुभ वस्तुतः ही नहीं यह भ्रममात्र ही यह प्रतीत मात्र है, लेकिन अशुभ को यथार्थ तथा भ्रामक मानना ना तो उपयुक्त है तथा नहीं समाचीन।

मनुष्य जिस प्रकार शुभ का अनुभव करता है उसी प्रकार अशुभ का भी अनुभव करता है इसलिए यदि शुभ के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है तो अशुभ को अपर्याय कैसे माना जा सकता है अशुभ या बुराई एक व्यवहारिक यथार्थ वास्तविक तथा कठोर अनुभूति है जिसका खंडन नहीं किया जा सकता है।

5. देववादियों ने ईश्वर को विश्वतीत विश्व से परे तथा तटस्थ माना है जो सृष्टि की रचना के बाद जगत से अपना संबंध विच्छेद कर लेता है। इसके बाद ईश्वर की शक्तियां विश्व का संचालन करती हैं परंतु यहां समस्या यह उठती है कि ईश्वर की शक्तियां ईश्वर से अलग कैसे रहती हैं? यदि ईश्वर की शक्तियां विश्व में विद्यमान हैं तो ईश्वर को विश्व से स्वतंत्र तथा परे नहीं माना जा सकता।
6. यह सिद्धांत ईश्वर के संबंध में अपनी धारणा को स्थापना वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करने का प्रयास करता है जिससे कि धर्म तथा विज्ञान के अंतरविरोध को समाप्त किया जा सके परंतु ऐसा प्रयास करते समय इस सिद्धांत का दार्शनिक पक्ष कमजोर हो जाता है। उदाहरण के लिए केवल नितेश्वरवाद की मान्यता कि ईश्वर बुद्धि द्वारा ज्ञेय है युक्ति पूर्ण नहीं लगता। धर्म के अंतर्गत ईश्वर का ज्ञान रहस्यात्मक अनुभूति तथा अंतर्ज्ञान या अपरोक्षानुभूति का विषय है। रहस्यात्मकता को धर्म का प्राण माना जाता है अतः ईश्वर को

बुद्धिगम्य मनाना असंगत अमान्य तथा भ्रामक है। इस सिद्धांत को धार्मिक भावना को संतुष्ट करने वाला नहीं माना जा सकता है। ईश्वर को कभी भी पूरी तरह मानव बुद्धि समझ नहीं सकती।

7. क्या केवल निमित्तेश्वरवाद का ईश्वर धार्मिक भावना की संतुष्टि कर सकता है ? इस सिद्धांत में ईश्वर को विश्वातित, तटस्थ एवं विश्व से परे मानना जाता है परंतु उल्लेखनीय है कि इस प्रकार का ईश्वर धार्मिक दृष्टि से संतोष जनक नहीं माना जाता है। धर्म भावना प्रधान है तथा भक्त ईश्वर का समीपता चाहता है परंतु विश्व से परे होने के कारण ईश्वर भक्ति की पहुंच से बाहर है इसलिए धर्म में ईश्वर को सर्वव्यापी तथा विश्व में व्याप्त माना जाता है
8. केवल नितेश्वरवाद में ईश्वर को सृष्टि कर्ता तो माना जा सकता है परंतु उसे पालन करता एवं संहारकर्ता नहीं माना जाता है धर्म में भक्त ऐसी ईश्वर की उपासना करता है जो समस्त गुणों से युक्त है जो प्रेम, दया, क्षमा आदि गुणों से विभूति है इसलिए यह सिद्धांत ईश्वर के इन गुणों का खंडन करके धार्मिक भावना को ठेस पहुंचती है। यही कारण है कि गैलवे ने इसे एक आलोचनात्मक क्रांति माना है, आध्यात्मिक नहीं।

इस विषय में यह भी कहा जाता है कि निमित्तेश्वरवाद में वैज्ञानिकता को स्थान देने के लिए ईश्वर में धार्मिकता को बाली दे दो इसमें ना तो धार्मिक प्रार्थना उपासना का महत्व रह जाता है ना ही धार्मिक रहस्यानुभूति का गौरव। पैट्रिक हैक के शब्दों में नितेश्वरवाद के ईश्वर के हाथ दुनिया बनना तो जानते हैं मगर उसे संभालना नहीं चाहते। वह दिमाग वाला ईश्वर तो है मगर दिलवाला नहीं।

7.4 निष्कर्ष

स्पष्ट है कि देववाद धार्मिक दृष्टिकोण से ईश्वर एवं जगत के संबंध की संतोषजनक व्याख्या नहीं कर पता तथा बुद्धिजीवी विचारको के लिए यह व्याख्या महत्वपूर्ण रही है देववाद ने रूढ़िवादी धार्मिक मान्यताओं और अंधविश्वासों का खंडन कर मनुष्य को इस जगत की समस्याओं पर तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करने के लिए प्रेरित करता है।

इकाई-8 सर्वेश्वरवाद

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 विशेषताएँ:

8.3 सर्वेश्वरवाद के प्रकार Forms of Pantheism

8.3.1 परम्परावादी (Traditional)

8.3.2 प्रत्ययवादी (Idealistic)

8.3.3 विकासवादी (Evolutionary)

8.3.4 जड़वादी (materialistic) (भौतिकवादी)

8.4 निष्कर्ष

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई ईश्वर के जगत के साथ सम्बन्ध की दिशा में सर्वेश्वरवाद अर्थात् सब कुछ ईश्वर है। की विस्तृत विवेचना करती है। सर्वे सर्वेश्वरवाद के बारे में विभिन्न पाश्चात्य तथा भारतीय विचारकों से मिले विवरणों का भी उल्लेख किया गया है इसके साथ ही सर्वेश्वरवाद के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए समीक्षात्मक मूल्यांकन भी किया गया है।

8.1 प्रस्तावना

पाश्चात्य तथा भारतीय चिंतन में ईश्वरवादी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने के साथ ही इसे विश्व या जगत का आदि कारण मानते हैं। उनके अनुसार इस विश्व का अस्तित्व पूर्णतः ईश्वर पर निर्भर है क्योंकि ईश्वर ने ही इस जगत की रचना की है तथा वही उसका एक मात्र मूल आधार है। इस सन्दर्भ में जगत के साथ ईश्वर के सम्बन्ध की व्याख्याएं भी मिलती हैं, जिन्हें मुख्यतः ईश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद एवं देववाद में वर्गीकृत किया जाता है।

ईश्वर एवं जगत के सम्बन्ध में सर्वेश्वरवाद पूर्ण तादात्म्य में विश्वास करता है अर्थात् ईश्वर तथा जगत दोनों अभिन्न हैं। ईश्वर जगत के कण-कण में व्याप्त है, अतः इन दोनों की भिन्नता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जगत की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें ईश्वर विद्यमान न हो। जगत मूलतः ईश्वर का ही रूप है ईश्वर ही अपने आप को इस जगत को विभिन्न वस्तुओं में अभिव्यक्त करता है।

अर्थ: सर्वेश्वर वाद शब्द - सर्व + ईश्वर ' इन दो शब्दों से मिलकर बना है इस प्रकार शब्दशः इससे यह उपलक्षित होता है कि वह धार्मिक सिद्धान्त जिसके अनुसार ईश्वर ही सब कुछ है। निम्नलिखित उदाहरण इसी प्रकार के धार्मिक सिद्धान्त को घोषित करता है। - ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । अर्थात् जो कुछ इस जगत में है वह सब ईश्वर से ही संभव है। इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर परमार्थिक सत्ता है जो अनन्त अनादि तथा सर्व व्यापी है। सर्वेश्वरवाद का अंग्रेजी समानार्थी शब्द Pantheism है जो 'Pan' तथा "Theos" इन दो शब्दों से व्युत्पन्न हुआ है जिनका क्रमशः अर्थ है all अर्थात्, सब, तथा God अर्थात् ईश्वर अर्थात्- 'All is God.'

सर्वेश्वरवाद का अर्थ है- सबकुछ ईश्वर है। ऐसा कहा जाता है कि इस सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर ही सब कुछ है तथा सब कुछ ईश्वर है। इस सिद्धान्त में ईश्वर तथा विश्व को समानार्थक मान लिया जाता है। प्रो. फिलिप् ने सर्वेश्वरवाद को निम्नवत पारिभाषित किया है - सर्वेश्वरवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जिसके अनुसार सभी ससीम वस्तुएं एक ही शाश्वत परमसत्ता के मात्र -पहलू विकार या अवयव हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी भौतिक पदार्थ एवं मन विशेष आवश्यक रूप में एक असीम द्रव्य से उद्भव हुए हैं। यह एक निरपेक्ष द्रव्य सर्वपक्षती सत्ता को ईश्वर की संज्ञा देता है।

8.2 विशेषताएँ

उस सिद्धांत के अनुसार सान्त तथा सीमित अन्नत तथा असीमित की अभिव्यक्ति है। अचेतन चेतन का ही प्रकार है। सम्पूर्ण सत्ता में नित्य तथा अनित्य सान्त तथा अनन्त, सीमित तथा असीमित, चेतन व अचेतन सभी समाहित तथा अन्तर्निहित है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि ईश्वर विश्व में अन्तर्निहित है तथा विश्व भी सम्पूर्ण ईश्वर में सन्निहित है। ईश्वर अपरिणामी है, नित्य, शाश्वत। अनादि, अनन्त तथा निरपेक्ष है।

सर्वेश्वरवाद के अन्तर्गत ईश्वर तथा विश्व के बीच अभिन्न तथा अपृथक् सम्बन्ध है। सृष्टा तथा सृष्टि ये अविच्छेद सम्बन्ध है। ईश्वर विश्व के कण - कण में व्याप्त है तथा विश्व पूर्णतया ईश्वर पर आधारित है। इस मत के प्रवर्तक ईश्वर को जगत की आत्मा तथा जगत को ईश्वर की आत्मा तथा जगत को ईश्वर का शरीर मानते हैं। ईश्वर ही विश्व का कारण है तथा विश्व ईश्वर का कार्य या परिणाम है। कारण तथा कार्य में जिस प्रकार अपरिहार्य सम्बन्ध पाया जाता है उसी प्रकार ईश्वर तथा विश्व में भी अपृथक् सम्बन्ध है। ईश्वर विश्वमय है तथा विश्व ईश्वरमय है।

सर्वेश्वरवाद ईश्वर तथा विश्व दोनों को एक दूसरे के लिए अनिवार्य मानता है। विश्व को ईश्वर के लिए इसलिए अनिवार्य माना जाता है क्योंकि ईश्वर विश्व के माध्यम से ही स्वयं को अभिव्यक्त करता है प्रकट करता है। उसी प्रकार विश्व के लिए ईश्वर इसलिए अनिवार्य है क्योंकि जिस प्रकार कारण के बिना कार्य की सत्ता असंभव है उसी प्रकार ईश्वर के बिना विश्व के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। विश्व ईश्वर स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।

सृष्टि के बिना सृष्टा की सार्थकता नहीं है, ईश्वर तथा विश्व अनादि काल से अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है। ईश्वर ने किसी काल विशेष में जगत की रचना नहीं की है। दोनों का सम्बन्ध काल सापेक्ष न होकर काल निरपेक्ष है। यह मत केवल निमित्तेश्वरवाद के विरुद्ध है, क्योंकि देववाद में माना गया है कि ईश्वर ने सृष्टि की रचना किसी काल विशेष में की। इस सिद्धान्त में ईश्वर तथा विश्व के बीच कालिक सम्बन्ध माना गया है, परन्तु सर्वेश्वरवाद ईश्वर तथा विश्व के मध्य अनादि, नित्य तथा शाश्वत सम्बन्ध मानता है।

सर्वेश्वरवाद में ईश्वर को निराकार, अमूर्त तथा व्यक्तिव रहित माना गया है। निरपेक्ष ईश्वर में इच्छा संकल्प आदि का पूर्ण अभाव होता है। निराकार निरपेक्ष ईश्वर ही अनन्त तथा असीमित ईश्वर होता है। यह सिद्धान्त ईश्वरवाद तथा देववाद के निपरीत है क्योंकि वे ईश्वर को सगुण तथा व्यक्तिवपूर्ण मानते हैं। ईश्वर दया, करुणा, क्षमा आदि गुणों से परे है। ईश्वर को सगुण तथा साकार मानने से आश्वर अपने गुणों से सापेक्ष तथा सीमित हो जाता है। अतः निरपेक्ष ईश्वर का निराकार तथा व्यक्तिव रहित होना अनिवार्य है।

सर्वेश्वरवाद में ईश्वर को विश्व का उपादान कारण माना जाता है। उपादान कारण को कार्य से पृथक् नहीं किया जा सकता है जैसे मिट्टी घड़े का उपादान कारण है तथा मिट्टी को घड़े से पृथक् नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार ईश्वर विश्व का उपादान कारण है तथा उसे विश्व से पृथक् नहीं किया जा सकता है। ईश्वर को विश्व से स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता है। ईश्वर तथा विश्व के मध्य अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

सर्वेश्वरवाद विश्व को निष्प्रयोजन तथा उद्देश्यरहित मानता है। विश्व की रचना के पीछे कोई प्रयोजन या उद्देश्य निहित नहीं है। ईश्वर किसी भी कमी की पूर्ति के लिए या किसी भी इच्छा को पूर्ति के लिए जगत की रचना नहीं करता है। विश्व ईश्वर की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है वह विश्व के रूप में अपने को प्रकाशित करता है तथा यह आत्म प्रकाशन ईश्वर की प्रकृति है। प्रो. विलन्ट का मन्तव्य है कि सर्वेश्वरवाद में एकवाद (Monism) तथा नियतिवाद (Determinism) दोनों निहित हैं। सर्वेश्वरवाद एकवाद का प्रतिपादन करता है यह एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है। -

8.3 सर्वेश्वरवाद के प्रकार FORMS OF PANTHEISM

- परम्परावादी (Traditional)
- प्रत्ययवादी (Idealistic)
- विकासवादी (Evolutionary)
- जड़वादी (materialistic) (भौतिकवादी)

8.3.1. परम्परावादी सर्वेश्वरवाद

सर्वेश्वरवाद का प्राचीनतम रूप को परम्परागत सर्वेश्वरवाद कहा जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार- ईश्वर को निर्गुण, निराकार, तथा निवैयक्तिक माना जाना है। सम्पूर्ण विश्व को ईश्वर का रूप माना जाता है। पाश्चात्य दार्शनिकों में इस प्रकार का सर्वेश्वरवाद महान बुद्धिवादी यहूदी दार्शनिक

स्पिनोजा के दर्शन में देखा जा सकता है। स्पिनोजा ने ईसाई धर्म में प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप को स्वीकार नहीं किया तथा ईश्वर में असीम, अनन्त निराकार, निर्विशेष, निर्गुण तथा निरपेक्ष सत्ता के रूप में स्वीकार किया। स्पिनोजा ने ईश्वर को स्वतन्त्र, शाश्वत तथा स्वयं भू द्रव्य की संज्ञा दी। ईश्वर को किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा नहीं है, वह पूर्णतया निरपेक्ष तथा निराधार होने के कारण-अनिर्वचनीय है। स्पिनोजा ने ईश्वर तथा विश्व को भिन्न माना है। स्थैतिक तथा

स्थैतिक तथा अचल रूप में स्पिनोजा ने यह प्रतिपादित किया कि समस्त प्रातिभासिक जगत को सम्पूर्ण समष्टि ईश्वर है (Nature Naturata) या ईश्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का गतिशील प्राण (Nature Naturans) है। स्पिनोजा ने अपने दर्शन में ईश्वर तथा विश्व को समानार्थक माना है। ईश्वर ही विश्व है तथा विश्व ही ईश्वर है ईश्वर विश्व के कण- कण में व्याप्त है। स्पिनोजा का निवैयक्तिक तथा निराकार ईश्वर धर्म की दृष्टि से उपादेय नहीं है। इस प्रकार का ईश्वर बौद्धिक प्रेम (Intellectu Love) का विषय है धार्मिक भावना का नहीं।

8.3.2. प्रत्ययवादी सर्वेश्वरवाद

प्रसिद्ध पाश्चात्य धर्म दार्शनिक फेकनर द्वारा प्रतिपादित प्रत्ययवादी सर्वेश्वरवाद के अन्तर्गत ईश्वर को आत्मा तथा विश्व को शरीर माना गया है। मानव- संरचना को दृष्टिगत रखते हुए फेकनर ने ईश्वर को विश्व की आत्मा के रूप में निरूपित किया तथा विश्व को ईश्वर की शरीर के रूप में प्रतिपादित किया है। ऐसी मान्यता है कि फेकनर ने ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना है जो कि अचेतन जगत का नियंत्रक है। ईश्वर को इस मत के अनुसार भी समष्टि रूप में माना गया है।

इस सिद्धांत को सर्वेश्वरवाद के अन्तर्गत इसलिए रखा है क्योंकि यहाँ यह स्वीकार किया गया है कि विश्वईश्वर में पूर्णतया समाहित हो जाता है तथा विश्व का कोई भी अंश ईश्वर से अलग नहीं रहता है। 'A Pluralistic Universe' नामक पुस्तक में विलियम जेम्स ने फेकनर के विचारों का प्रस्तुतीकरण किया है तथा यह प्रदर्शित किया है कि उनके अनुसार ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है।

8.3.3. विकासात्मक सर्वेश्वरवाद

विकासात्मक सर्वेश्वरवाद का समर्थन एवं प्रतिपादन करने वाले प्रमुख दार्शनिकों ने हीगले, ब्रेडले तथा बोसांके के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस सिद्धान्त से मान्यता है कि परमसत्ता अनेक संभावनाओं से परिपूर्ण है। विकास की प्रक्रिया में ये संभावनाएं क्रमशः वास्तविकता में परिणत होती जाती है। इस विकासक्रम में सर्व प्रथम भौतिक पदार्थ का विकास होता है तथा इसके उपरान्त जीवित या चेतन तत्वों तथा चेतन जीवों का विकास होता है। इसमें ईश्वर सर्वोच्च सत्ता है जो पूर्ण है तथा विकासक्रम का घटमत्तम शिखर है इस प्रकार विकासवादियों ने संभावना से वास्तविकता का विकासक्रम का सम्यक रूपेण निरूपण किया है।

8.3.4. मौक्तिकवादी सर्वेश्वरवाद

इस सिद्धान्त को प्रायः विकासात्मक सर्वेश्वरवाद का विरोधी सिद्धान्त माने जाने की परम्परा रही है। इस सिद्धांत के प्रतिपादक ने विश्व में व्याप्त एकरूपता को व्याख्या भौतिक पदार्थों के माध्यम से करने का प्रयास किया है। परन्तु वास्तव में देखा जाय कि तो जड़वादी मान्यता सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्तों से सुसंगत नहीं है तथा धर्म के क्षेत्र में इस प्रकार की धारणा बहुत सम्मानजनक स्थान कभी भी ग्रहण नहीं कर पायी है। विकासात्मक सर्वेश्वरवाद के विपरीत यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि परमसत्ता समष्टि रूप तथा पूर्ण है तथा विकास पूर्ण से अपूर्ण की ओर होता है।

भारतीय दर्शन में सर्वेश्वरवाद :-

सर्वेश्वरवाद की परम्परा भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों चिंतन में मिली है। भारतीय परम्परा में उपनिषद्, गीता। शंकराचार्य आदि के चिंतन में सर्वेश्वरवाद अभिव्यक्त होता है। ईशावास्योपनिषद् कहा गया है - ईसावास्थनि सर्व यत्किंचित जगत्यो जगत्' अर्थात् जो कुछ जगत में है। वह ईश्वर में ही भगवद्गीता में कहा गया है कि जो मुझे सर्वत्र देखता है वह मुझमें सबको देखता है मैं उसके लिए कभी नहीं सोता न ही वह मेरे लिए।

यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं चर्मयि पश्यति] तस्पाहं न प्रणश्यामि सच मे न प्रणश्याति

अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य सम्पूर्ण सत्ता को ब्रह्म मानते हैं साथ ही पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म जगत तथा जबि को अभिन्न मानते हैं-

"ब्रह्म" सत्य जगत्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नायर "

आलोचना:-

1. सर्वेश्वरवाद धार्मिक दृष्टिकोण से संतोषजनक नहीं है ईश्वरोपासना के लिए ईश्वर तथा भक्त में भेद होना अनिवार्य है, यदि ईश्वर तथा भक्त एक ही है तो भक्त द्वारा ईश्वर की उपासना करने का प्रश्न ही नहीं उठना क्योंकि ऐसी स्थिति में भक्त या ईश्वर स्वयं अपने ही उपासना करेगा। पुनः धार्मिक मनोवृत्ति की सन्तुष्टि हेतु ईश्वर की व्यक्तित्वपूर्णता आवश्यक है। जबकि सर्वेश्वरवाद ईश्वर को व्यक्तित्व शून्य मानता है। धार्मिक व्यक्ति ईश्वर से प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, प्रार्थना आदि की अपेक्षा रखता है जो कि निवैयक्तिकता में संभव नहीं है।
2. सर्वेश्वरवादी ईश्वर तथा मनुष्य को एक स्थिति में ला देते हैं। यह जगत तथा मनुष्य सीमित तथा अपूर्ण है जिससे ईश्वर भी सीमित एवं अपूर्ण हो जाता है। पुनः ईश्वर जगत को निकृष्टतम वस्तुओं में भी विद्यमान हो जाता है, जोकि धार्मिक के लिए ठीक नहीं है।
एक अन्य दृष्टिकोण से यदि ईश्वर पत्थर में इसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार मनुष्य में है। इस स्थिति में दोनों का आधार भूत अन्तर समाप्त हो जायेगा, जबकि चेतना कि स्तर पर दोनों में पर्याप्त अन्तर है जिससे मनुष्य ही ईश्वरवेपासना कर पाता है।
3. सर्वेश्वरवाद मानवीय संकल्प स्वतन्त्र तथा नैतिक मूल्यों का निषेध करता है। सर्वेश्वरवाद के लिए मनुष्य का ईश्वर से भिन्न एवं संकल्प की स्वतन्त्रता के लिए मनुष्य का ईश्वर से भिन्न एवं स्वतन्त्रता के लिए मनुष्य का ईश्वर से भिन्न एवं स्वतन्त्र होना आवश्यक है जिसका सर्वेश्वरवाद में कोई स्थान नहीं है। यदि संकल्प स्वातन्त्र्य नहीं है, तो पाप-पुण्य, धर्म -अधर्म का उत्तरदायित्व मनुष्य पर लागू नहीं हो सकता।
4. सर्वेश्वरवाद के अनुसार यह जगत ही ईश्वर है, जिससे निर्यातवाद सिद्धान्त का समर्थन होता है अर्थात् पूर्व निर्धारित नियमों के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि एवं ईश्वर संचालित है जिसमें जगत की विविधता की व्याख्या संभव नहीं हो सकती तथा प्रकृति के यान्त्रिक विवरणों की भांति मनुष्य भी यान्त्रिक नियमों से संचालित माना जायेगा, जिसमें निराशावादी प्रवृत्ति उत्पत्ति होना स्वाभाविक है।

सर्वेश्वरवाद का एक अन्य कमजोर पक्ष यह है कि उस सिद्धान्त के अन्तर्गत सृष्टि को प्रयो जनहीन माना गया है। इसकी मान्यता है कि ईश्वर स्वयं विश्व के रूप में अपने को अभिव्यक्त करता है, परन्तु यदि हम वास्तविक दृष्टिकोण से देखे तो विश्व की प्रत्येक घटना में क्रमबद्धता तथा तारतम्यता देखा जा सकता है। सर्वेश्वरवाद विश्व को प्रयोजनहीन मानकर उस क्रमबद्धता, सुसंगति एवं व्यवस्था की समुचित व्याख्या नहीं कर पाता है।

8.4 निष्कर्ष

उपरोक्त कमियों, विसंगतियों एवं दोषों को देखते हुए यह नहीं मान लेना चाहिए कि सर्वेश्वरवाद का कोई मूल्य नहीं है तथा यह पूर्णतया अमान्य, असंगत एवं अस्वीकार्य है। भावनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो हम इसकी कई उल्लेखनीय विशेषताओं का निरूपण करते हैं। वास्तव में सर्वेश्वरवाद के अन्तर्गत रहस्यवाद की पराकाष्ठा व्याधित होती है। सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्त नैतिक आचरण के उन्नयन तथा विषमता की भावना के परित्याग को प्रोत्साहित करता है। अन्ततः यह स्वीकार करना गलत न होगा कि यह ईश्वर को एकमात्र परमसत्ता मानकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एकता से सम्बन्धित मनुष्य की आकांक्षा को पूर्ति करता है साथ ही रहस्यवाद के साथ संयुक्त होकर धार्मिक दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

ईश्वरवाद (Theism)

पाश्चात्य तथा भारतीय चिंतन में समस्त ईश्वरवादी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने के साथ ही इसे विश्व या जगत का आदि कारण मानते हैं उनके अनुसार इस विश्व का अस्तित्व पूर्णतः ईश्वर पर निर्भर है।

ईश्वर और जगत के सम्बन्ध में ईश्वरवाद एक लोकप्रिय अवधारणा है जिसमें ईश्वर अनन्त और व्यक्तित्वपूर्ण है साथ ही सृष्टिकर्ता एवम् पालनकर्ता है विश्व का अस्तित्व पूर्णतया ईश्वर पर ही निर्भर है। विश्व में ईश्वर व्याप्त भी है और उससे परे भी है अर्थात् ईश्वर विश्वातीत और अंतर्वर्ती दोनों है। ईश्वरवादी अपने परमतत्त्व को जगत में पूर्णतया व्याप्त मानने के साथ ही विश्व से अलग भी मानते हैं। उल्लेखनीय है कि ईश्वरवाद का शाब्दिक अर्थ होता है वह मत जो ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करे किन्तु यहां पर इस शब्द की चर्चा विशिष्ट अर्थ में होती है जिसके अन्तर्गत व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर जगत का निमित्त एवं उपादान कारण है साथ ही विश्वव्यापी तथा विश्वातीत है।

जगत से सम्बन्धित ईश्वरवादी अवधारणा समस्त ईश्वरवादी धर्मों में मिलती है जिनका ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है सामान्यतः ज्ञानात्मक भावात्मक एवम् क्रियात्मक प्रक्रियायें व्यक्ति के मानसिक पक्ष की ओर संकेत करती हैं वही क्रियात्मक प्रक्रियायें व्यक्ति के शारीरिक पक्ष को उद्घाटित करती हैं इसलिए व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर में तत्त्वमीमांसीय एवं नैतिक गुणों का समोवेश होता है तत्त्व मीमांसी दृष्टि से ईश्वर को सर्वशक्तिशाली सर्वव्यापक सर्वज्ञ, सास्वत् एवम् अनन्त आदि गुणों से युक्त माना जाता है।

ईश्वरवाद में परमतत्त्व सम्पूर्ण कार्य को करने की क्षमता होती है साथ ही वह समस्त सत्ता में विद्यमान होता है इस समस्त वस्तुओं प्राणियों स्थानों एवम् तीनों कालों में होने वाली घटनाओं का ज्ञान होता है ईश्वर शाश्वत अनादि एवम् कालातीत है जिससे असीमितता या अनन्तता का गुण भी विद्यमान हो जाता है। इस तत्त्व मीमांसी गुणों के अतिरिक्त ईश्वर में कुछ नैतिक गुणों का भी समावेश किया जाता है। नैतिक गुण वह है जो मनुष्य के अनुभव का भी समावेश किया जाता है। नैतिकगुण वह है जो मनुष्य के अनुभव द्वारा श्रेष्ठतर एवं वांछनीय माने जाते हैं। जैसे ईश्वर का पूर्ण शुभत्व होना, प्रेम, करुणा, न्यायशीलता आदि से युक्त होना।

ईश्वरवाद का समर्थन भारतीय एवम् पाश्चात्य दोनों चिन्तनों में मिलता है। भारतीय परम्परा में मुख्यतः वैष्णव वेदान्ती रामानुज बल्लभाचार्य माधवाचार्य इसका समर्थन करते हैं साथ ही वेद, उपनिषद् तथा गीता में भी ईश्वरवाद पर प्रकाश पड़ता है। रामानुज के विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म, जगत एवम् आत्मा की वास्तविक सत्ता स्वीकार की गई है ईश्वर का अंश जगत है जगत विशेषण है ईश्वर विशेष है साथ ईश्वर जगत की अंतर्यामी आत्मा है अर्थात् जगत में व्याप्त है। ईश्वर ही कार्य रूप में जगत में परिवर्तित है।

जगत में व्याप्त होने तक ही रामानुज का ईश्वर सीमित नहीं है बल्कि वह जगत से परे भी है। इस संदर्भ में रामानुज अंतर्यामी, नारायण, व्यूह, विभव एवम् अर्चावतार आते हैं। जिसमें अंतर्यामी, व्यूह, विभव एवम् अर्चावतार की अवधारणा में ईश्वर जगत में निहित रहता है जबकि 'नारायण' में देश काल की सीमा से परे भगवान् वैकुण्ठ लोक में लक्ष्मी के साथ शेषनाग पर विद्यमान हैं। रामानुज का ईश्वर जगत का निमित्त कारण होने के साथ ही ऐश्वर्य, यश, धर्म, श्री, ज्ञान एवम् वैराग्य से युक्त है और जगत का पालन कर्ता व संहारक भी है।

ईश्वरवाद का समर्थन ईसाई धर्म में भी मिलता है साथ ही एक्विनास, अगस्टाइन आदि मध्ययुगीन विचारकों ने भी ईसाई धर्म के आधार पर ईश्वरवाद की व्याख्या की है। आधुनिक चिंतन में गैल्वे भी ईश्वरवाद के समर्थन में कहते हैं कि यदि व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर को नहीं माना जाए तो सम्पूर्ण मानव-चेतना का विकास, भ्रमात्मक हो जाएगा। स्पष्ट है कि ईश्वरवादी अवधारणा मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासाओं एवम् धार्मिकता को संतुष्ट करती है। गैल्वे यहां तक कहते हैं कि व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के अभाव में हमारी धार्मिक अनुभूति सत्य नहीं मानी जा सकती।

ईश्वरवाद मानव को संकल्प की स्वतंत्रता से युक्त रखता है। वह मानव के कर्मों में बाधक नहीं होता इसलिए ईश्वरवाद के साथ कर्म सिद्धांत का समर्थन मिलता है मनुष्य जैसा कर्म करता है उसके अनुसार इसे फल की प्राप्ति अवश्य होती है। जिससे ईश्वर न्यायाधीश की भूमिका निभाता है। अर्थात् मनुष्य कर्मों के आधार पर जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है साथ ही व्यक्तित्व पूर्ण ईश्वर उसकी पुकार एवम् कर्मों पर ध्यान देकर उसका कल्याण करने की क्षमता भी रखता है जिससे मनुष्य में आशा का संचार होना स्वाभाविक है।

ईश्वरवाद का समर्थन प्रायः सभी ईश्वरवादी धर्मों में मिलता है जिससे इसकी लोक प्रियता सर्वाधि मानी जाती है। विश्वव्यापी होने के नाते वह मनुष्य के निकट भी है और विश्वातीत होने के कारण दूर भी है। अतः उपासक और उपास्य में दूरी भी बनी हुई है। जो धर्म के लिए आवश्यक है ईश्वर के प्रति भय, श्रद्धा तथा प्रेम की चेतना व्यक्तित्व के कारण बनी रहती है क्योंकि ईश्वरवाद में मानव चेतना तथा ईश्वर चेतना को समता प्रदान की गई है। इसलिए कहा जाता है कि ईश्वरवाद का जन्म मनुष्य की धार्मिक आकांक्षा की पूर्ति और संतुष्टि के लिए हुआ है।

ईश्वरवाद, द्वैतवाद एवम् सर्वेश्वरवाद दोनों सिद्धांतों की कुछ विशेषताओं को स्वीकार करने के साथ ही कुछ नये चिंतन को सम्मिलित करता है यद्यपि द्वैतवाद एवम् ईश्वरवाद दोनों ही ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं किन्तु यहां एक ओर द्वैतवाद में विश्वातीत ईश्वर विश्व का केवल निमित्त कारण है वहीं ईश्वरवाद में विश्वव्यापी व विश्वातीत ईश्वर विश्व का निमित्त तथा उपादान तथा उपादान दोनों हैं। पुनः ईश्वरवाद से अलग सर्वेश्वरवादी ईश्वर को विश्वव्यापी एवम् व्यक्तित्व शून्य मानते हैं।

उपर्युक्त तुलना पर गैल्वे का मत है कि द्वैतवाद के इस मत को ईश्वरवादी अस्वीकार करते हैं कि जगत ईश्वर से स्वतंत्र है। पुनः सर्वेश्वरवाद में सुधार करते हुए ईश्वरवादी 'सब कुछ ईश्वर है' से बजाए 'सब कुछ ईश्वर पर निर्भर है' को स्वीकार्य करते हैं जिससे धार्मिक अनुभव के मानवीय तथा ईश्वरीय पक्षों की समुचित मान्यता प्राप्त हो जाती है।

आलोचना –

1. ईश्वरवाद, द्वैतवाद सर्वेश्वरवाद की कठिनाई को दूर करने के प्रयास में स्वयं विसंगतियों से युक्त हो जाता है। यदि ईश्वर वास्तव में विश्वातीत है तो वह विश्वव्यापी नहीं हो सकता और यदि विश्वव्यापी है तो उसे विश्वातीत नहीं माना जा सकता। किन्तु ईश्वरवादी दोनों परस्पर विरोधी मान्यताओं को एक साथ स्वीकार्य कर लेते हैं।
2. ईश्वरवाद में व्यक्तित्वपूर्ण विरोधाभासों को जन्म देती है यदि ईश्वर एक ओर सर्वशक्तिमान है तो दूसरी ओर सृष्टि निर्माण में नियम प्रवर्तन भी करता है अतः कोई भी सर्वशक्तिमान सत्ता जैसे ही नियम देती तो वह नियमों में बंधने के कारण सीमित हो जाएगी। मैकी मानते हैं कि यदि सर्वशक्तिमान ईश्वर स्वयं बनाये नियमों से नियन्त्रित नहीं होता तो इससे भी उसकी सर्वशक्तिमत्ता खंडित होती है।
3. पुनः ईश्वर नित्य है किन्तु परिवर्तनशील विश्व के साथ उसे भी परिवर्तित होना पड़ेगा। यदि ईश्वर सर्वज्ञ है तो संगल्प भी स्वतंत्रता बाधित होती है। इस प्रकार ईश्वरवाद में व्यक्तित्वपूर्णता अनेक कठिनाईयां उत्पन्न करती है। कहीं-कहीं नैतिक एवं तत्वमीमांसी गुण भी विरोधाभास उत्पन्न करते हैं जैसे ईश्वर शक्तिशाली एवम् दयालु है तो विश्व में ऐसे दुख क्यों उत्पन्न होते हैं जिनके लिए मनुष्य उत्तरदायी नहीं है। यह अशुभ की समस्या मनुष्य के लिए एक चुनौती बनी हुई है।
4. ईश्वर द्वारा विश्व की रचना का अवचित्य सिद्ध नहीं हो पाता यदि ईश्वर ने निश्चित प्रयोजन या उद्देश्य से विश्व की रचना की है तो समस्या है कि यदि ईश्वर किसी इच्छा या प्रयोजन से जगत की रचना करता है तो वह पूर्ण नहीं हो या और यदि वह पूर्ण है तो उसका कोई प्रयोजन नहीं सकता। यदि जीवों के प्रति करुणा अथवा दया से प्रेरित होकर ईश्वर विश्व की रचना करता है तो यह असम्भव है क्योंकि विश्व रचना के पूर्व जीवों को अस्तित्व कैसे सम्भव है। वैष्णव वेदान्ती रामानुज जगत को ईश्वर की क्रीड़ा कहते हैं। इससे ईश्वर की अवोधता निष्प्रयोजनता एवम् अपूर्णता सिद्ध होती है क्योंकि इसमें मात्र आनन्द हेतु जगत रचना करता है।

निष्कर्ष – स्पष्ट है कि ईश्वरवाद भी जगत की रचना एवम् ईश्वर जगत के सम्बन्ध में तार्किक निष्कर्ष तक नहीं पहुंच पाता यद्यपि धार्मिक दृष्टिकोण से ईश्वरवाद द्वैतवाद तथा सर्वेश्वरवाद से अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है यहां प्रो० फिलिप्स का मत उचित है कि ईश्वरवाद से कम कोई धर्म स्वीकार करने योग्य नहीं है और इससे अधिक की कोई सम्भावना नहीं है।

खण्ड-4 ईश्वर के अस्तित्व हेतु युक्तियाँ

खण्ड परिचय

विश्व के अधिकांश धर्मों में ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास किया जाता है। किसी मूर्त या अमूर्त वस्तु के जब 'अस्तित्व' की बात की जाती है; तो उसका तात्पर्य होता है कि वह वस्तु यथार्थ में या तर्कतः हमारे अनुभव या तर्कबुद्धि का विषय बन सकती है। विश्व में प्रचलित विभिन्न धर्मों एवं धर्मशास्त्रों में ईश्वर को एक स्वतंत्र वस्तुपरक सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है।

ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले सभी धर्म परायण व्यक्ति ईश्वर को एक ऐसी व्यक्तित्व पूर्ण सत्ता के रूप में वर्णन करते हैं, जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, परमदयालु, असीमकरुणा से युक्त, प्रेम का आगार एवं शाश्वत, अनादि और परम शुभ सत्ता है। धर्मपरायण व्यक्ति इस प्रकार के ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता, पालनकर्त्ता एवं संहार कर्त्ता माना है। ईश्वर धर्म परायण व्यक्ति इस प्रकार के ईश्वर देश एवं काल से अतीत एवं मानवीय केन्द्र के अनुभव और तर्क से भी परे माना है। इसीलिए ईश्वर को आगम और अगोचर भी कहा जाता है।

ईश्वर के अस्तित्व को लेकर जो प्रमुख सवाल उठता है वह यह है कि क्या ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए प्रमाण दिया जा सकता है? जहाँ तक धर्मपरायण ईश्वरवादी व्यक्ति का सवाल है; तो वह ईश्वर के प्रति आत्म समर्पण एवं आत्म ग्रसन से युक्त होता है कि उसके लिए ईश्वर का ज्ञान न तो वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित होता है और न ही तार्किक ज्ञान पर आधारित होता है; अपितु केवल उसके विश्वास और आस्था पर आधारित होता है। अतएव धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रकट करता है। ईश्वर के अस्तित्व को लेकर धार्मिकों में ही नहीं; बल्कि दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों में भी विशेष आकर्षण रहा है। ईश्वर के अस्तित्व के लिए अब तक जितने भी प्रमाण दिये गये हैं उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(I) प्रथमवर्ग में वे प्रमाण आते हैं जो अनुभव पर आधारित हैं इसलिए इस प्रकार के प्रमाण को अनुभवाश्रित प्रमाण (A posteriori Arguments) कहते हैं। इस प्रकार के प्रमाण के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमाण आते हैं।

1. सृष्टि मूलक या कारण मूलक प्रमाण (Cosmological or Causal Argument)
2. प्रयोजन मूलक या उद्देश्य मूलक प्रमाण (Teleological Argument)
3. धार्मिक अनुभव सम्बन्धी प्रमाण (Argument of Religious Experience)
4. नैतिक प्रमाण (Moral Argument)

(II) दूसरेवर्ग में ऐसे प्रमाण हैं; जो अनुभव से स्वतंत्र हैं। इस प्रकार के प्रमाण को प्रागनुभाविक (Apriori Argument) कहा जाता है और इस प्रकार के प्रमाण के अन्तर्गत सत्तामूलक या प्रत्ययमूलक प्रमाण (Ontological Argument) आता है।

5. प्रत्ययमूलक प्रमाण (Ontological Argument)

अब हम ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये प्रमाणों के सभी इकाई में एक सामान्य परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इस खण्ड के इकाई-10 में 'प्रागनुभाविक प्रमाण' के रूप में ईश्वर के अस्तित्व के दिये गये प्रत्यय मूलक के प्रमाण का वर्णन किया गया है। खण्ड के इकाई-1 में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये प्रत्यय मूलक प्रमाण को स्पष्ट करते हुए विभिन्न दार्शनिकों के द्वारा इसके पक्ष और विपक्ष में दिये गये तर्कों की समीक्षा करते हुए निष्कर्ष के रूप में इस तर्क की महत्ता को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

खण्ड के इकाई-11 ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये विश्वमूलक युक्ति या कारणमूलक युक्ति को विवेचन का विषय बनाया गया है। यह प्रमाण धर्मपरायण व्यक्ति के अनुभवपर आधारित होने के कारण इसे 'अनुभवाश्रित प्रमाण' के रूप में जाना जाता है। इस प्रमाण के अन्तर्गत ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए ग्रीक दार्शनिकों से लेकर सम कालीन पाश्चात्य दार्शनिकों एवं भारतीय दार्शनिकों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि के पक्ष और विपक्ष में दिये गये तर्कों का उल्लेख करते हुए एक सम्यक् निष्कर्ष देने का प्रयास किया गया है।

खण्ड के इकाई—12 में ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये प्रयोजन मूलक तर्कभी अनुभव पर आधारित होने के कारण 'अनुभवाश्रित प्रमाण' के रूप में जाना जाता है। इस प्रमाण में विश्व में विद्यमान व्यवस्था की सुसंगति एवं सामञ्जस्य के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

खण्ड के इकाई—13 में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए धार्मिक अनुभव पर आधारित तर्कों को ग्रहण किया गया है। यह प्रमाण भी धार्मिक अनुभव पर आधारित होने के कारण 'अनुभवाश्रित प्रमाण' के अंतर्गत रखा जाता है। प्रयोजनमूलक प्रमाण न केवल दार्शनिकों बल्कि वैज्ञानिकों के भी आकर्षण का केन्द्र रहा है।

खण्ड के इकाई—14 में ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये नैतिक प्रमाण का वर्णन किया गया है। ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये सभी प्रमाणों में नैतिक प्रमाण को विशेष महत्व दिया जाता है। यह प्रमाण भी धार्मिक अनुभव पर आधारित होने के कारण 'अनुभवाश्रित प्रमाण' कहलाता है। प्रायः धर्म और नैतिकता दोनों में ही ईश्वर को केन्द्रीय स्थान दिया जाता है। धर्म में अतीन्द्रिय ईश्वर को प्राप्त करने के लिए जो मार्ग बताये गये हैं। वे मार्ग नैतिकता से ही होकर जाते हैं। जहाँ धर्म नैतिकता को अतीन्द्रिय लक्ष्य प्रदान करता है, वहीं नैतिकता भी धर्म के अतीन्द्रिय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मार्ग को भी प्रशस्त करती है। इसलिए ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये नैतिक तर्क की अधिकांश धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों ने अनुशंसा की है और इसे ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए उपयुक्त प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इकाई-10 सत्ता मूलक युक्ति

इकाई की रूपरेखा—

- 10.0 उद्देश्य
- 10.1 प्रस्तावना
- 10.2 प्रत्ययमूलकप्रमाण या सत्तामूलक प्रमाण एक प्रागनुभाविक प्रमाण
- 10.3 प्रत्ययमूलक प्रमाण का आरम्भिक रूप
- 10.4 सन्त एन्सेलम का प्रत्ययमूलक प्रमाण
- 10.5 सन्त एन्सेलम के प्रमाण का उनके समकालीन दार्शनिक गैनिलों द्वारा खण्डन
- 10.6 समकालीन विश्लेषणवादी दार्शनिकों का प्रत्ययमूलक प्रमाण पर दृष्टिकोण
- 10.7 समकालीन दार्शनिक मॉल्कॉम का एन्सेलम के पक्ष में तर्क
- 10.8 आधुनिक दार्शनिक डेकार्ट का प्रत्यय मूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क
- 10.9 डेकार्ट के परवर्ती बुद्धिवादी दार्शनिक स्पिनोजा एवं लाइबनिट्ज का प्रत्यय मूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क
- 10.10 डेकार्ट के समकालीन दार्शनिक गैसेण्डी द्वारा डेकार्ट के तर्क का खण्डन
- 10.11 आधुनिक दार्शनिक काण्ट द्वारा डेकार्ट के प्रत्यय मूलक प्रमाण का खण्डन
- 10.12 जी० ई० मूर द्वारा काण्ट के मत का समर्थन
- 10.13 समकालीन दार्शनिक बर्टेण्डर सेल द्वारा प्रत्यय मूलक प्रमाण का खण्डन
- 10.14 आधुनिक दार्शनिक हेगल, बोसांके, के अर्ड, नार्मन मॉल्कम एवं चार्ल्स हार्डशो द्वारा प्रत्यय मूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क
- 10.15 निष्कर्ष
- 10.16 सारांश
- 10.17 प्रश्नबोध
- 10.18 उपयोगीपुस्तक

10.0 उद्देश्य

धर्म दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए जितने भी प्रमाण दिये गये हैं, उन सभी दार्शनिकों के पक्ष एवं विपक्ष में दिये गये प्रमाणों का उल्लेख करते हुए सम्यक विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत इकाई में ईश्वर के अस्तित्व के विषय में दिये गये विभिन्न दार्शनिकों के प्रत्ययमूलक प्रमाण की सम्यक परीक्षण किया गया है। प्रत्यय मूलकप्रमाण का उद्देश्य प्रागनुभाविक आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना है।

10.1 प्रस्तावना

प्रत्यय मूलक प्रमाण में यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि ईश्वर की सत्ता ईश्वर के प्रत्यय से ही स्पष्ट हो जाती है। ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए दिया गया प्रत्यय मूलक प्रमाण बोध कराता है कि ईश्वर है। प्रत्यय मूलक प्रमाण का शाब्दिक अभिप्राय है कि ईश्वर के प्रत्यय (विचार) में ही ईश्वर की सत्ता निहित रहती है। ऐसा संभव नहीं है कि हम ईश्वर के प्रत्यय को स्वीकार करें और उसकी सत्ता को अस्वीकार करें। अतएव ईश्वर प्रत्यय का सारतत्त्व ही है कि ईश्वर का जिस रूप में प्रत्यय हमारे मन में है; उस प्रत्यय के अनुरूप ईश्वर की सत्ता है। प्रायः सभी ईश्वरवादियों में ईश्वर के प्रत्यय को शाश्वतनित्य एवं निरपेक्ष सत्ता माना गया है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने सर्व प्रथम वस्तु का प्रत्ययों की अनुकृति और अभिव्यक्ति बताया है।

प्लेटों ने सर्वप्रथम यह प्रति पादित किया है कि सर्वोच्च प्रत्यय शुभ का प्रत्यय है और इसी की वास्तविक सत्ता है, क्यों कि यह ही पूर्ण सत्ता है। कालान्तर में आगस्टाइन ने यह दिखाया कि प्रत्ययों का सारतत्व ही है उनके अनुरूप सत्ता भी हो। प्रत्यय मूलक प्रमाण के प्रमुख दार्शनिक सन्त एन्सेलम को माना जाता है। सन्त एन्सेलम के अतिरिक्त डेकार्ट, लाइबनिट्ज, हेगल, केयर्ड आदि ने इस प्रमाण का समर्थन किया और इसके पक्ष में अपने तर्क दिये हैं।

10.2 प्रत्ययमूलक प्रमाण या सत्तामूलक प्रमाण एक प्रागनुभाविक प्रमाण

ईश्वर की सत्ता के लिए सत्तामूलक प्रमाण एक प्रागनुभाविक प्रमाण माना जाता है। इस प्रमाण में ईश्वर के प्रत्यय के आधार पर उसकी सत्ता को सिद्ध करने के आधार पर उसकी सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दिये गये अन्य सभी प्रमाणों में प्रत्ययमूलक प्रमाण इस अर्थ में अन्य सभी प्रमाणों से भिन्न है क्यों कि इसमें विशुद्ध प्रत्यय के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया जाता है।

10.3 प्रत्ययमूलक प्रमाण का आरम्भिक रूप

ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रत्यय रूपी प्रमाण का आरम्भिक रूप ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के दर्शन में मिलता है; जिसके अन्तर्गत वे शुभ को सर्वोच्च या परम प्रत्यय के रूप में वर्णित किया है और उसे ईश्वर की संज्ञा से अभिहित किया है। पन्तु ईश्वर के लिए सत्ता-प्रत्ययमूलक प्रमाण का व्यवस्थित मध्यकालीन ग्रीक दार्शनिक सन्त एन्सेलम के दर्शन में व्यक्त हुआ है। यही कारण है सन्त एन्सेलम को ही सत्ता मूलक प्रमाण का प्रणेता माना जाता है। प्रत्ययमूलक या सत्तामूलक प्रमाण के अन्तर्गत विशुद्ध विचार या प्रत्ययों के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। ग्यारहवीं शती के मध्यकालीन दार्शनिक सन्त एन्सेलम ने अपने ग्रन्थ Proslogion के अध्याय 2 में यह विचार व्यक्त किया “ईश्वर एक ऐसी सत्ता है, जिससे महानतर सत्ता की कल्पना नहीं की जासकती है।”

10.4 सन्त एन्सेलम का प्रत्ययमूलकप्रमाण

सन्त एन्सेलम की यह धारणा है कि ईश्वर वह पूर्ण सत्ता है, जिसके अनास्तित्व का विचार ही नहीं किया जा सकता है। पूर्ण सत्ता का तात्पर्य ऐसी सत्ता से है, जिससे उच्चतर कोई अन्य सत्ता न हो। इस प्रकार पूर्ण सत्ता उसे माना जाएगा जो विचार और यथार्थ दोनों में ही सत् हो। अतएव उपर्युक्त वर्णन में एन्सेलम ने अस्तित्व को ईश्वर-प्रत्यय का सार गुण मान लिया। Proslogion ग्रन्थ में अन्यत्र सन्त एन्सेलम ने सत्तामूलक में कहा है कि क्या कोई मूर्ख अपने मन में यह सोच सकता है कि ईश्वर नहीं है? यह तभी तर्क संगत हो सकता है, जब ईश्वर का अस्तित्व एवं अनास्तित्व दोनों ही संभव हो, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व एवं अनास्तित्व दोनों की कल्पनाकरना एक प्रकार से वदतोत्याघात है। यहाँ एन्सेलम यह प्रतिपादित करते हैं कि ईश्वर को पूर्ण कहना और उसकी सत्ता का निषेध करना परस्पर व्याघाती बातें हैं। अतएव एन्सेलम के अनुसार ईश्वर सत्ता की पूर्ण आपातिक सत्ता न हो कर अनिवार्य सत्ता है और उसे ईश्वर के पूर्णता के प्रत्यय में ही अन्तर्निहित माना जा सकता है एवं ईश्वर के प्रत्यय से ही तार्किक दृष्टि से निगमित किया जा सकता है।

10.5 सन्त एन्सेलम के प्रमाण का उनके समकालीन दार्शनिक गैनिलों द्वारा खण्डन

सन्त एन्सेलम के समकालीन गैनिलो (Gaunilo) ने सन्त एन्सेलम के सत्ता मूलक प्रमाण का खण्डन करते हुए कहा कि यदि इस प्रमाण को स्वीकार करें, तो किसी भी काल्पनिक वस्तु की सत्ता प्रमाणित हो सकती है। उनका कहना है कि इस प्रमाण को स्वीकार करें; तो किसी भी काल्पनिक वस्तु की सत्ता प्रमाणित हो सकती है। उनका कहना है कि इस प्रमाण के आधार पर हम एक ऐसे पूर्ण द्वीप की कल्पना कर सकते हैं जो सभी दृष्टियों से पूर्ण है। तो क्या विचार मात्र से ही पूर्ण द्वीप एवं सभी दृष्टियों से परिपूर्ण द्वीप वास्तविक रूप से अस्तित्व मान हो जाता है? जब तक पूर्ण द्वीप का विचार वास्तविक एवं यथार्थ न हो तब तक द्वीप की पूर्णता बाधित होती है। इसलिए गैनिलो का यह कहना है कि— “किसी वस्तु का विचार में होना एक बात है तथा उसका यथार्थ एवं वस्तु परक होना बिल्कुल दूसरी बात है, इन दोनों बातों में कोई अन्तर्सम्बन्ध नहीं है। यदि हम सत्तामूलक प्रमाण को स्वीकार करते हैं; तो किसी भी काल्पनिक वस्तु की सत्ता प्रमाणित कर सकते

हैं।”

गैनिलो की उपर्युक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए एन्सेलम ने कहा कि उनका सत्ता मूल कर्तक केवल पूर्ण ईश्वर के प्रत्यय पर ही लागू होता है; क्यों कि ईश्वर का प्रत्यय समस्तसांसारिक वस्तुओं से पूर्णतः के अनास्तित्व की कल्पना की जा सकती है, किन्तु ईश्वर अनिवार्य सत्ता होने के कारण उसके अनास्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है।

10.6 समकालीन विश्लेषण वादी दार्शनिकों का प्रत्यय मूलक प्रमाण पर दृष्टि कोण

समकालीन विश्लेषण वादी दार्शनिकों ने एन्सेलम के उपर्युक्त तर्क का निराकरण करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि— “हम केवल विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञापितियों के सम्बन्ध में ही अनिवार्यता की बात सार्थकता पूर्वक कर सकते हैं। ईश्वर के अनिवार्य सत्ता की बात करना निरर्थक, दोषपूर्ण एवं भ्रामक है ईश्वर को अनन्य एवं अद्वितीय कहकर उसकी सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है।”

10.7 समकालीन दार्शनिक मॉल्कोम का एन्सेलम के पक्ष में तर्क

परन्तु समकालीन दार्शनिक मॉल्कोम ने सन्त एन्सेलम के विचार के पक्ष में तर्क देते हुए कहा है कि ईश्वर की अनिवार्य वास्तविकता साधारण तथा वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित नहीं है और न ही इसे संज्ञानात्मक ही माना जा सकता है; किन्तु धार्मिक दृष्टि इसका विशेष महत्व है। ईश्वर की अनिवार्य सत्ता के कारण ही जीवन के प्रति स्थिरता का भाव उत्पन्न होता है, जिसके बिना एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता है।

10.8 आधुनिक दार्शनिक डेकार्ट का प्रत्यय मूलकप्रमाण के पक्ष में तर्क

आधुनिक दर्शन के जनक महान बुद्धि वादी दार्शनिक रेने देकार्ट ने एन्सेलम के सत्ता मूलक प्रमाण को संशोधित रूप में प्रस्तुत करते हुए यह विचार व्यक्त किया है— “जिस प्रकार त्रिभुज के ज्ञान में ही यह ज्ञान निहित है कि उसके तीनों कोणों का योग दो समकोण के बराबर होता है; उसी प्रकार ईश्वर के पूर्णता में यह भी निहित है कि ईश्वर का अस्तित्व है। यदि ईश्वर में अस्तित्व का अभाव होगा तो उसे अपूर्ण कहा जाएगा। अतः ईश्वर की पूर्णता में ही उसका अस्तित्व भी अन्तर्निहित है।

अने कसमीक्षकों ने देकार्ट के उपर्युक्त तर्क को सन्त एन्सेलम के तर्क की अनुकृति मात्र कहा है, किन्तु देकार्ट पर इस प्रकार आरोप लगाया जाना उचित नहीं है। एन्सेलम के तर्क में ईश्वर का अस्तित्व ईश्वर की सत्ता पर निर्भर है; जबकि देकार्ट का कहना है कि ईश्वर के अस्तित्व के कारण मानव में ईश्वर विषयक विचार उत्पन्न होता है। एन्सेलम के अनुसार ईश्वर वह है जिससे उच्चतर सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती है; जब कि देकार्ट ने ईश्वर को सर्वोपरिपूर्ण सत्ता कहा है।

देकार्ट ने सत्ता मूलक प्रमाण को एक अन्य रूप में भी व्यक्त करते हुए यह कहा है कि— “मेशी बुद्धि में पूर्ण एवं अनन्त ईश्वर का विचार है। इस विचार का कोई अन्य कारण नहीं हो सकता, अपितु ईश्वर स्वयं है; जो पूर्ण एवं अनन्त है।” इस प्रकार देकार्ट ने ईश्वर के अस्तित्व को पूर्णता के प्रत्यय के रूप में परिभाषित किया।

10.9 डेकार्ट के परवर्ती बुद्धि वादी दार्शनिक स्पिनोजा एवं लाइब निट्ज का प्रत्यय मूलकप्रमाण के पक्ष में तर्क

देकार्ट के पश्चात् उसके परवर्ती दार्शनिक स्पिनोजा एवं लाइब निट्ज ने भी ईश्वर के अस्तित्व के लिए देकार्ट के द्वारा दिये गये सत्तामूलक प्रमाण का ही प्रकारान्तर से समर्थन किया है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर का विचार एक अनन्त द्रव्य का विचार है। ‘अस्तित्व’ अनन्तता के अनेक गुणों में से एक है। ईश्वर की सत्ता उसके पूर्ण एवं अनन्त विचार में ही अन्तर्निहित है। लाइबनिट्ज के अनुसार “यदि ईश्वर संभव है तो उसकी सत्ता है; क्योंकि उसका अस्तित्व उसकी संभावना का अनिवार्य परिणाम है।”

10.10 डेकार्ट के समकालीनदार्शनिकगैसेण्डी द्वाराडेकार्ट के तर्क का खण्डन

परन्तु देकार्ट के ही समकालीन दार्शनिक गैसेण्डी ने बुद्धिवादी दार्शनिकों के ईश्वर के अस्तित्व के लिए

दिये गये सत्ता मूलक प्रमाण का खण्डन करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि—‘कोई भी प्रत्यय क्यों न हो, उसके अनुरूप वास्तविकता का रहना अनिवार्य नहीं है। ईश्वर का प्रत्यय कितना ही पूर्ण प्रत्यय क्यों न हो, ऐसा ही प्रत्यय क्यों न हो जिससे वृहत्तर प्रत्यय की कल्पना नहीं की जा सकती है; तो भी इस प्रकार के प्रत्यय के अनुरूप वास्तविकता का रहना अनिवार्य नहीं माना जाएगा।’

आधुनिक दार्शनिक काण्ट ने देकार्त तथा अन्य द्वारा प्रस्तुत सत्ता मूलकप्रमाण की तीव्र आलोचना किया है। उनका कहना है कि विचार के द्वारा किसी भी वस्तु की वास्तविकता सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। उनका यह कहना है कि यदि हमारे मन में सौडालर के विचार मात्र से मेरे जेब में वास्तव में सौडालर आजायेगे। अतएव सम्प्रत्यय और वास्तविकता दो अलग-अलग बातें हैं; जिन्हें एक मानने की भूलन ही करनी चाहिए।

10.11 आधुनिक दार्शनिक काण्ट द्वारा डेकार्त के प्रत्ययमूलकप्रमाण का खण्डन

काण्ट ईश्वर के सत्ता मूलकतर्क के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए यह भी कहते हैं कि “यद्यपि सत्ता सत्ता मूलक प्रमाण समस्त ईश्वर सम्बन्धी तार्किक चिन्तन का आधार है; किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सत्ता वस्तु का गुण नहीं है। अस्तित्व विधेय नहीं है।”

काण्ट ने ईश्वर के विचार से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है को एक विश्लेषणात्मक कथन माना है और उसकी सत्यता को सोपाधिकमाना है। काण्ट के अनुसार यह एक प्रकार की पुनःकति मात्र है; जिसका कोई अर्थ नहीं होता है जैसे ‘सभी कुँआरे अविवाहित हैं’। अतएव ईश्वर की वास्तविक सत्ता का अनुमान ईश्वर के विचार मात्र से नहीं किया जा सकता है।

10.12 जी० ई० मूर द्वारा काण्ट के मत का समर्थन

काण्ट के मत समर्थन करते हुए जी०ई० मूर ने भी यह कहा है कि ‘सत्ता’ एवं ‘गुण’ में स्पष्ट भेद है। सत्ता को गुण नहीं माना जा सकता है। जी० ई० मूर का यह कहना है कि “केवल किसी वस्तु की परिभाषा के द्वारा उसे अस्तित्व में नहीं लाया जा सकता है। परिभाषाएँ गणित तर्कशास्त्र के क्षेत्र में उपयुक्त हो सकती हैं; वास्तविकता के क्षेत्र में नहीं।”

10.13 समकालीन दार्शनिक बर्टेण्डरसेल द्वारा प्रत्ययमूलक प्रमाण का खण्डन

समकालीन विश्लेषण वादी दार्शनिक बर्टेण्डरसेल का मानना है कि जब हम कोई वर्णनात्मक वाक्य बोलते हैं, तब यह मान लिया जाता है कि इस वाक्य का सम्बन्ध उस वस्तु से है; जैसे— ‘बिल्ली का अस्तित्व है’ इस वाक्य का तात्पर्य हो जाएगा कि ‘बिल्ली जिसका अस्तित्व है, उसका अस्तित्व है। इस प्रकार यह वर्णनात्मक वाक्य एक पुनर्कथन होगा। इसी प्रकार यदि यह कहा जाए कि ‘ईश्वर का अस्तित्व है, तो यह वर्णनात्मक वाक्य एक पुनर्कथन मात्र होगा। अतएव जब ‘अस्तित्व’ को ‘गुण’ मान लिया जाता है, तो उसे पहले से ही स्वीकार करके सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है।

10.14 आधुनिक दार्शनिक हेगल, बोसांके, के अर्ड, नार्मन मॉल्कम एवं चार्ल्स हार्डशो द्वारा प्रत्ययमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

आधुनिक युग में हेगल, बोसांके, के अर्ड, नार्मन मॉल्कम, चार्ल्स हार्डशो इत्यादि दार्शनिकों ने सत्तामूलक प्रमाण का समर्थन किया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि सत्ता मूलक प्रमाण के द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है। प्रत्ययवादी दार्शनिक हेगल का कहना है कि— “काण्ट ने ईश्वर के सिद्धि के लिए सत्तामूलक प्रमाण के सम्बन्ध में जो आपत्तियाँ उठायीं हैं, वे आपत्तियाँ केवल सांसारिक वस्तुओं के ऊपर लागू होती हैं; ईश्वर पर नहीं। ईश्वर का विचार सामान्य प्रकार का विचार न होकर असाधारण एवं अद्वितीय प्रकार का विचार है।”

हेगल ने काण्ट के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व के लिए सत्तामूलक प्रमाण के सम्बन्ध में उठायी गयी आपत्ति के विषय में यह भी कहा है कि “काण्ट ने स्वयं ‘प्रत्यय’ एवं ‘सत्ता’ के सम्बन्ध को स्वीकार किया है।

जब काण्ट यह कहता है कि 'बिना प्रत्यक्ष के प्रत्यय रिक्त है' तथा प्रत्यय के बिना प्रत्यक्ष अन्ध है; तो काण्ट अपने इस कथन में 'प्रत्यय' एवं 'सत्ता' के स्वाभाविक सम्बन्ध को स्वीकार कर लेता है।" हेगल ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि 'प्रत्यय' एवं 'सत्ता' के बीच यह सम्बन्ध 'ईश्वर की सत्ता' में सर्वोच्च अवस्था में होता है तथा 'ईश्वर' एवं 'सत्ता' यह सम्बन्ध कोई बाह्य सम्बन्ध न होकर आन्तरिक सम्बन्ध है, क्योंकि संसार की सभी वस्तुओं में एक अन्तर्निहित आन्तरिक सम्बन्ध है। क्यों कि संसार की सभी वस्तुओं में एक अन्तर्निहित प्रवृत्ति होती है; जो उसे निरपेक्ष प्रत्यय की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती रहती है। अतएव 'प्रत्यय' में 'अस्तित्व' अन्तर्निहित है।

प्रत्ययवादी दार्शनिक बोसांके का तो यहां तक कहना है कि "सौ डालर के प्रत्यय से यह नहीं सिद्ध होता है कि मेरे पास सौ डालर हैं, किन्तु इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि यदि 'डालर का प्रत्यय' है; तो उसका 'अस्तित्व' भी कहीं न कहीं अवश्य है।"

10.15 निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में सत्तामूलक या प्रत्ययमूलक प्रमाण का समर्थन में जितने भी तर्क दिये गये हैं; उनका प्रत्युत्तर भी विभिन्न दार्शनिकों द्वारा दिया गया है। इसलिए सत्तामूलक या प्रत्ययमूलक प्रमाण द्वारा ईश्वर के अस्तित्व के सिद्ध किये जाने में जो कठिनाई थी वह ज्यों की त्यों बनी रह जाती है। वास्तविकता यह है कि ईश्वर के प्रत्यय से यह ही नहीं सिद्ध होता है कि ईश्वर एक वास्तविक सत्ता है। किसी भी वस्तु की वास्तविक सत्ता तभी मानी जा सकती है, जब उस प्रत्यय से सुसंगत कोई सत्ता हो। जहाँ तक ईश्वर के पूर्ण 'प्रत्यय का सवाल है तो उसके अनुरूप विश्व में कोई सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती है। अत एव यह कहा जा सकता है कि सत्तामूलक प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में असफल रहता है।

10.16 सारांश

सत्तामूलक प्रमाण को तत्वमूलक युक्ति अथवा प्रत्यय-सत्तामूलक प्रमाण भी कहते हैं। प्रमाण के रूप में यह ईश्वर की सिद्धि के लिए दिया गया प्रागनुभाविक प्रमाण है। इस प्रमाण प्रमुख रूप यह अर्थ सन्निहित है कि— 'ईश्वर के प्रत्यय में ही उसकी सत्ता भी अन्तर्निहित है।' ईश्वर का प्रत्यय पूर्णता का प्रत्यय है। ईश्वर का प्रत्यय पूर्ण एवं अनन्त प्रत्यय है। पूर्ण और अनन्त प्रत्यय में सत्ता का भी समाहित होना तर्कतः सिद्ध होता है। अतएव ईश्वर विषयक विचार से ईश्वर की सत्ता को अलग कर दिया जाय; तो यह आत्म विरोधी हो जाएगा और इससे ईश्वर की पूर्णता खण्डित हो जाएगी। ईश्वर का प्रत्यय सांसारिक वस्तुओं की भांति नहीं है। सांसारिक वस्तुओं के विचार मात्र से उसकी सत्ता प्रमाणित नहीं होती है। यदि ईश्वर को अस्तित्व रहित सम्प्रत्यय माना जाए तो वह सम्प्रत्यय न हो कर प्रत्ययभास होगा और ऐसे प्रत्यय वाले ईश्वर का हमारे लिए कोई महत्व नहीं होगा। प्रत्ययमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों में सन्त एन्सेलम, डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनिज और अन्य सभी प्रत्ययवादी दार्शनिक जैसे हेगल बोसांके के अर्ड, माल्कॉम, चार्ल्स हार्ड शो आदि उल्लेखनीय हैं। प्रत्ययमूलक प्रमाण के विपक्ष में तर्क देने वाले दार्शनिकों में गैनिलों, काण्ट, जी०ई०मूर, रसेल आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

10.17 प्रश्न बोध

1. ईश्वर के अस्तित्व के लिए सत्तामूलक प्रमाण की व्याख्या कीजिए।
2. क्या ईश्वर की अनिवार्य सत्ता आत्मविरोधी प्रत्यय है? विवेचना कीजिए।

10.18 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्मदर्शन— डॉ० याकूबमसीह
2. धर्मदर्शन की मूलसमस्याएँ— डॉ० वेदप्रकाशवर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन — डॉ० शिवभानु सिंह

इकाई-11 विश्वमूलक युक्ति

इकाई की रूपरेखा—

- 11.0 उद्देश्य
- 11.1 प्रस्तावना
- 11.2 ईश्वर के अस्तित्वकोसिद्ध के लिए विश्व मूलक युक्ति
- 11.3 ग्रीक दार्शनिक प्लेटो एवं अरस्तू का विश्व मूलक प्रमाण के पक्ष में
- 11.4 तर्क विश्वमूलक प्रमाण के पक्ष में एक्वानस का तर्क
- 11.5 विश्वमूलक प्रमाण के पक्ष में ह्यूम का तर्क
- 11.6 विश्वमूलक प्रमाण के विपक्ष मेंकाण्ट का तर्क
- 11.7 विश्वमूलक प्रमाण के पक्ष में जी0एच0 जायस का तर्क
- 11.8 विश्व मूलक प्रमाण का डेविड ह्यूम द्वारा खण्डन
- 11.9 बर्टेण्डरसेल द्वाराविश्वमूलक युक्ति का खण्डन
- 11.10 विश्वमूलक युक्ति का इमान्युलकाण्ट द्वारा खण्डन
- 11.11 निष्कर्ष
- 11.12 सारांश
- 11.13 प्रश्नबोध
- 11.14 उपयोगी पुस्तकें

11.0 उद्देश्य

ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए विभिन्न धर्मपरायण व्यक्तियों ने विभिन्न तर्कों का सहारा लिया है। धर्मपरायण व्यक्तियों के द्वारा ईश्वर के अनेक रूपों में वर्णन किया है। इसका परिणाम यह है कि ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में जो वर्णन मिलता है; उसकी भी महत्वपूर्ण भूमिका है प्रायः सभी धर्मपरायण व्यक्तियों ने ईश्वर को विश्व का स्रष्टा माना है। सृष्टि के आधार पर इसके स्रष्टा के रूप में परिकल्पना हमें विश्व मूलकप्रमाण की ओर ले जाती है। जहाँ प्रत्ययमूलक प्रमाण कोई श्वर की सिद्धि के लिए प्रागनुभाविक तर्क के रूप में माना जाता है; वहीं विश्वमूलक प्रमाण को ईश्वर की सिद्धि के लिए आनुभाविक प्रमाण के रूप में जाना जाता है। जहाँ ईश्वर की सिद्धि के लिए दिए गए सत्तामूलक प्रमाण प्रत्यय (विचार) को प्रमुखता दी जाती हैं, वहीं विश्वमूलक प्रमाण में यथार्थता को प्रमुखता दी जाती है। विश्वमूलक प्रमाण का प्रारम्भिक बिन्दु विश्व की वास्तविक वस्तुएँ हैं। विश्व मूलक प्रमाण में विश्व को कार्य मान लिया जाता है और इसके निमित्त कारण (स्रष्टा) के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। विश्वमूलक प्रमाण के समर्थक दार्शनिकों का यह कहना है कि विश्व की यथार्थ वस्तुओं के आधार पर ईश्वर का अनिवार्य सत्ता को सिद्ध किया जा सकता है। प्राचीनकाल से लेकर आजतक विश्वमूलक प्रमाण ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के लिए आकर्षण का विषय रहा है। ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए दिये गये विश्वमूलक प्रमाण का उद्देश्य तर्क के द्वारा ईश्वर में आस्था उत्पन्न करना रहा है। यह तर्क दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण इसलिए हो जाता है, क्योंकि कि इसके अन्तर्गत जगत् वास्तविक वस्तुओं के कारण के रूप में ईश्वर की सत्ताको प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। प्रायः इस तर्क को प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक ईश्वर को विश्व के आदि कारण, निमित्त कारण, निमित्त एवं उपादान दोनों कारण, अनिवार्य कारण इत्यादि रूप में वर्णित किया है।

11.1 प्रस्तावना

ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए विश्वमूलक प्रमाण को आनुभाविकप्रमाण कहा गया है; क्योंकि यहाँ हमारा प्रस्थान विश्व की आकस्मिक वस्तुएँ हैं और वस्तु विशेष अनुभव हो सकता है। चूँकि इस प्रमाण का प्रारम्भिक बिन्दु अनुभव और वास्तविक वस्तुएँ हैं। इसलिए कहा जाता है कि एकेश्वरवादी प्रत्यय और वास्तविकता को प्राथमिकता देता है, प्रत्यय को नहीं। प्रायः सभी एकेश्वरवादी दार्शनिक एवं धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर में प्रत्यय और सत्ता को अवियोज्य रूप से एक मानते हैं। पाश्चात्य दर्शन में विश्वमूलक प्रमाण बहुत प्राचीन काल से ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए दिया जाने वाला एक प्रमुख प्रमाण रहा है। यद्यपि विश्वमूलक प्रमाण का बीज रूप प्लेटो एवं अरस्तू के दर्शन में मिलता है; किन्तु इसे व्यवस्थित तर्क के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय ग्रीक मध्यकालीन दार्शनिक सन्त टॉमस एक्वानस (1224–1274) को जाता है। ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए विश्वमूलक प्रमाण की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है। कुछ धर्मपरायण व्यक्ति एवं दार्शनिक विश्वमूलक प्रमाण को कारण कार्य सिद्धान्त पर आधारित मानते हैं, तो कुछ इस प्रमाण को विश्व की आपातिकता पर आधारित करते हैं। वास्तविकता यह है कि विश्वमूलक प्रमाण विश्व की आकस्मिकता पर निर्भर करता है या कारण-कार्य सिद्धान्त पर निर्भर करता है; इसे लेकर दार्शनिकों में बहुत ही मत भेद रहा है।

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये विश्वमूलक प्रमाण जहाँ एक ओर विश्व को कार्य और ईश्वर कोइ सका सृष्टिकर्ता माना गया है; वहीं दूसरी ओर जगत् की आपातिक वस्तुओं की सत्ता के लिए किसी अनिवार्य सत्ता का होना आवश्यक माना गया है। इसलिए विश्वमूलक प्रमाण के अन्तर्गत कारण-कार्य युक्ति और आपातिक वस्तुओं की सत्ता के लिए ईश्वर के रूप में एक अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक माना गया है। विश्व की जितनी ससीम वस्तुएँ हैं; वे अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु पर निर्भर हैं। अतएव एक ऐसे ईश्वर की आवश्यकता अनुभव की जाती है। जिसे स्वनिर्भर, स्वाश्रित और स्वयंभू माना जाए और जो अन्य सभी आपातिक वस्तुओं का अनिवार्य आधार हो।

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिया गया कार्य-कारण सिद्धान्त निम्न लिखित तर्कों पर आधारित है—

1. कोई भी घटना बिना कारण के संभव नहीं हो सकती है। अतः प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होगा।
2. घटनाओं की श्रृंखला निरन्तर चलती रहती है। 'क' का कारण 'ख', 'ख' का कारण 'ग', 'ग' का कारण 'घ' इत्यादि अनुक्रम लगातार चलता रहता है।
3. घटनाओं के इस अनुक्रम का कोई अन्त नहीं दिखायी पड़ता है। यदि ऐसा है; तो अनिश्चित श्रेणियों तक पहुँचना भी संभव नहीं मालूम पड़ता है। अतः अनवरन्त दोष से बचने के लिए इस अनुक्रम का; जिसे हम विश्व कहते हैं कोई न कोई आदि कारण मानना पड़ता है।
4. विश्व में जितनी भी वस्तुएँ हैं; उनके अनुक्रम की व्यवस्था को विश्व की संज्ञा दी जाती है। इस विश्व के आदि कारण को आद्य प्रवर्तक कहा जा सकता है; जिसके द्वारा अन्य सभी घटनाएँ घटित होती हैं और जो सभी घटनाओं का कारण होता है; पर जो स्वयं किसी अन्य कारण से नियमित नहीं होता है। इसी आद्य प्रवर्तक को ग्रीक दार्शनिक प्लेटों ने अपने दर्शन में 'शुभ-प्रत्यय' की संज्ञा से अभिहित किया है और अरस्तू ने विश्व में पायी जाने वाली सभी गतिशील वस्तुओं के गति का आद्य प्रवर्तक के रूप में ईश्वर को वर्णित किया है।
5. इस प्रकार कारण-कार्य सिद्धान्त में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि ईश्वर सम्पूर्ण विश्व का कारण है; किन्तु ईश्वर का कोई कारण नहीं है। ईश्वर सम्पूर्ण विश्व का आदि कारण है; जिसका विश्व के कारण-कार्य श्रृंखला में सर्वोच्च स्थान है। ऐसा इसलिए है; क्योंकि विश्व की सभी वस्तुएँ ससीम और सान्त हैं और ईश्वर ही एक ऐसी असीम एवं अनन्त सत्ता है; जिससे और अधिक व्यापक सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतएव विश्वमूलक प्रमाण को ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए प्रस्तुत करने वाले धर्मपरायण व्यक्ति एवं दार्शनिकों का यह कहना है कि इस प्रमाण से ईश्वर की

11.2 ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध के लिए विश्वमूलक युक्ति

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये इस प्रमाण को विश्वमूलक प्रमाण इसलिए कहा जाता है कि क्योंकि अंग्रेजी शब्द (Cosmos) का अर्थ ही विश्व या संसार है। यह एक अनुभवमूलक युक्ति (A posteriori Argument) है। प्रायः किसी वस्तु के अस्तित्व या संसार से तात्पर्य यह होता है कि वह हमारे अनुभव या तर्क बुद्धि का विषय है या हो सकती है। ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दी गयी यह युक्ति किसी न किसी रूप में मनुष्य के स्वयं के अनुभव पर आधारित है। यह विश्वमूलक युक्ति ही 'सृष्टिमूलक' युक्ति है। अरस्तु ने प्लेटों से प्रेरणा लेकर गति के आधार पर ईश्वर को अप्रवर्तित प्रवर्तक (Unmoved Mover) सिद्ध किया। वास्तविकता यह है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए दी गयी सृष्टिमूलक युक्ति के नाम से ही यह स्पष्ट होता है कि इस युक्ति का सम्बन्ध 'सृष्टि' या 'जगत' से है। इस युक्ति में 'जगत' या 'सृष्टि' के अस्तित्व के आधार पर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है। प्राचीन काल से ही ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में यह तर्क दिया जाता रहा है कि 'ईश्वर सृष्टि का आदि कारण है' और उसका अस्तित्व कार्य-कारण नियम से सिद्ध होता है।' पाश्चात्य दर्शन में ग्रीक दार्शनिक प्लेटो अरस्तु, एक्वानस, देकार्त, लाइबनीट्ज एवं भारतीय दर्शन में नैयायिकों तथा अद्वैत वेदान्त के समर्थकों ने ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए सृष्टिमूलक प्रमाण को प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः सृष्टिमूलकप्रमाण का सम्बन्ध विश्व में विद्यमान 'गति' 'आकस्मिकता' या 'कारणता' से है।

11.3 ग्रीक दार्शनिक प्लेटो एवं अरस्तु का विश्वमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

सर्वप्रथम ग्रीक के महान दार्शनिक अरस्तु ने ईश्वर को एक ऐसी अप्रवर्तित प्रवर्तक कहा है, जो विश्व की सभी वस्तुओं को गति प्रदान करता है। अरस्तु का अनुकरण करते हुए मध्य कालीन दार्शनिक सन्त एक्वीनास ने भी विश्व में विद्यमान गति का कारण ईश्वर को माना है। एक्वीनास का मानना है कि विश्व में सर्वत्र गति, परिवर्तन एवं परिणाम है। गति स्वयं उत्पन्न नहीं हो सकती; क्यों कि गति का कोई न कोई कारण होता है। पुनः उस गति का भी कोई कारण होना चाहिए। इस प्रकार यह क्रम चलता रहेगा और अनवस्थादोष उत्पन्न हो जाता है। इसलिए अनन्त शृंखला के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाले इस दोष से बचने के लिए एक ऐसी सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है जो समस्त गतिमान वस्तुओं का आदिकरण है। अर्थात्—सर्वप्रथम गति प्रदान करने वाली वही सत्ता है।

परन्तु ईश्वर के अस्तित्व के लिए गति मूलक तर्क के विरुद्ध यह आपत्ति उठायी गयी है। इस युक्ति में एक गति हीन ईश्वर सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान गति का आदि कारण मान लिया गया है; जब कि यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि केवल वही सत्ता या वस्तु गति उत्पन्न कर सकती है, जो स्वयं गति शील हो। अतएव यहाँ प्रश्न उठता है कि ईश्वर को गति रहित सत्ता क्यों माना गया है? इसके अतिरिक्त यदि यह मान भी लिया जाए कि विश्व में विद्यमान गति का एक मूल कारण या आदि कारण है; तो इससे सिद्ध नहीं होता है कि वह सत्ता ईश्वर ही है, जो सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान एवं सर्व व्यापी है।

11.4 विश्वमूलक प्रमाण के पक्ष में एक्वीनास का तर्क

विश्वमूलक युक्ति या सृष्टिमूलक प्रमाण का ही एक भाग आकस्मिकता सम्बन्धी प्रमाण है। सन्तथामस एक्वीनास ने विश्व में विद्यमान वस्तुओं की आपत्तिकता के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि ईश्वर की सत्ता आपातिक न होकर अनिवार्य है। विश्व की आकस्मिक या आपातिक वस्तुओं के शृंखला पर विचार करते हुए एक्वीनास यह तर्क देते हैं कि— “या तो आकस्मिक वस्तुओं की शृंखला अनन्त है अथवा इसके मूल में कोई ऐसी सत्ता है; जो विश्व की सभी वस्तुओं का मूल या आदि कारण है। इसलिए आकस्मिक एवं क्षणिक विश्व की समुचित व्याख्या के लिए स्वनिर्भर, स्वाश्रित एवं स्वयंभू जैसी अनिवार्य सत्ता को स्वीकारना आवश्यक है।” एक्वीनास की मान्यता है कि “क्षण भंगुर वास्तविकता किसी अनिवार्य सत्ता का आह्वान करती है।”

11.5 विश्वमूलक प्रमाण के पक्ष में ह्यूम का तर्क

एक्वीनास के आकस्मिकता सम्बन्धी युक्ति का खण्डन करते हुए ह्यूम कहते हैं कि— “यह मान्यता प्रागनुभाविक है।”

11.6 विश्वमूलक प्रमाण के विपक्ष में काण्ट का तर्क

ह्यूम की ही भाँति काण्ट का भी मानना है कि “चाहे एक्वीनास कुछ भी कहें, उनका मत यथार्थ में सत्तामूलक प्रमाण का छद्म रूप है। यहाँ केवल प्रमाण में एक के स्थान पर दो प्रमाण हैं—

1. विश्व की सभी घटनाएँ आपातिक हैं और आपातिक बिना किसी अनिवार्य सत्ता के संभव नहीं है। तथा
2. अनिवार्य सत्ता है, जिसका स्वरूप ही है कि वह वास्तविक रहे।

अतएव काण्ट भी आकस्मिकता सम्बन्धी युक्ति को प्रागनुभाविक मानते हैं।

आकस्मिकता सम्बन्धी युक्ति के समर्थक विश्व की आपातिक वस्तुओं की व्याख्या के लिए ईश्वर की अनिवार्य सत्ता को स्वीकार करने की बात करते हैं। परन्तु यह प्रश्नही निरर्थक है कि विश्व की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है?

आकस्मिकता सम्बन्धी प्रमाण के समर्थक दार्शनिक ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए एक ओर तो विश्व की घटनाओं को अनन्त शृंखला मान रहे हैं; तो दूसरी ओर इसके अन्त होने की बात कर रहे हैं। भला अनन्त का अंत कैसे होगा? इसलिए अनन्त काल के प्रवाह में अन्त होने की बात आत्म विरोधी लगती है। अनन्त प्रवाह से यह सिद्ध होता है कि— “विश्व आत्मसंचालित, आत्मनियमित एवं आत्मनियंत्रित सत्ता है और इसके लिए किसी विश्वेत्त रसत्ता की आवश्यकता नहीं है।”

विश्व मूलक या सृष्टिमूलक प्रमाण का बहु प्रचलित रूप कारणता की धारणा पर आधारित है। यही कारण है कि सृष्टि मूलक प्रमाण को कारणमूलक प्रमाण भी कहा जाता है। भारतीय दर्शन में न्याय दर्शन के आचार्य उदयन ने ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए ‘न्याय कुसुमांजलि’ करण मूल कर्तक को दिया है। पाश्चात्य दर्शन के अनेक दार्शनिकों ने कारणमूलक युक्ति के द्वारा ईश्वर सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास है। कारण मूलक युक्ति की सहायता से ईश्वर की सत्ताको सिद्ध करने वाले दार्शनिकों का यह मानना है कि “प्राकृतिक जगत ऐसा कार्य है; जिसका कारण ईश्वर को ही माना जा सकता है।”

11.7 विश्वमूलक प्रमाण के पक्ष में जी०एच० जॉयस का तर्क

जी०एच० जॉयस ने (Principles of Natural Theology) में कहा है कि— “प्रथम या मूलकारण के अभाव में किसी भी गौण कारण की सत्ता संभव नहीं है। चूँकि गौण कारणों का अस्तित्व है; इसलिए हमें यह मानना होगा कि, इन कारण-कार्य के मूलमें एक प्रथम कारण अवश्य है जो सभी कारणों का कारण है।” अतएव प्राकृतिक जगत की सत्ता की व्याख्या के लिए एक मूल सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है जिसे ईश्वर की सत्ता के रूप में जाना जाता है; किन्तु ऐसा स्वीकार करना तभी आवश्यक है; जब यह मानलिया जाए कि संसार के अस्तित्व का कोई अनिवार्य कारण है।

कारण मूलक प्रमाण के विरुद्ध प्रमुख आपत्ति यह उठायी जाती है कि इस युक्ति के समर्थक इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे पाते हैं यदि सभी वस्तुओं का कोई न कोई कारण है; तो ईश्वर का कारण क्या है? वह अकारण क्यों है? कारण मूलक युक्ति के समर्थक दार्शनिक ईश्वर को स्वयंभू तथा अपना कारण स्वयं ही बताते हैं। परन्तु कारण मूलक तर्क के समर्थक दार्शनिकों से यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि यदि ईश्वर अकारण हो सकता है; तो यह विश्व अकारण क्यों नहीं हो सकता? यदि किसी वस्तु को अकारण मानना आवश्यक है, तो विश्व को ही अकारण क्यों न मानलिया जाए और यह मानलिया जाए कि यह विश्व स्वचालित, आत्मनियमित एवं आत्मनियंत्रित सत्ता है, क्यों कि विश्व का अनुभव हमें होता है, जबकि ईश्वर अनुभवातीत सत्ता है।

11.8 विश्वमूलक प्रमाण का डेविड ह्यूम द्वारा खण्डन

पाश्चात्य दार्शनिक डेविड ह्यूम ने कारण मूलक युक्ति में तीन प्रमुख दोष दिखलाए हैं—

1. यदि विश्व के सभी कार्यों का आदि कारण या मूल कारण मानना ही है; तो ईश्वर के बजाय प्रकृति को ही आदि या मूल कारण क्यों न माना जाए? यदि अनवस्था दोष से बचने के लिए ईश्वर को आदि कारण के रूप में स्वीकार किया जाता है; तो प्रकृति को भी आदि कारण स्वीकार करके अनवस्था दोष से बचा जा सकता है।
2. किसी विशिष्ट कार्य का कोई विशिष्ट कारण होता है। संसार के सभी कार्यों के योग को 'विश्व' कहा जाता है; जबकि विश्व केवल संसार के सभी कार्यों का समुदाय मात्र नहीं है। इसलिए विश्व के कारण की कल्पना करना अनावश्यक एवं निराधार है। ह्यूम के अनुसार कारण-कार्य शृंखला अनन्त है। इस कारण-कार्य की अनन्त शृंखला के मूल में किसी सामूहिक कार्य का कारण मानना व्यर्थ है।
3. ह्यूम का कथन है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि जगत का कोई मूल कारण है; तब भी यह सिद्ध नहीं होता है कि वह मूल कारण ईश्वर है। यह मूल कारण ईश्वर न हो कर कोई आसुरी शक्ति या जड़ शक्ति हो सकती है।

कारणमूलक युक्ति में उपर्युक्त दोषों को दिखाने के पश्चात् ह्यूम कहते हैं कि हमारा विचार सीमित से असीमित की ओर बढ़ता है, क्यों कि बुद्धि, अनिश्चयता या अनवस्था पर नहीं रुक सकती। अतएव उसमें पूर्ण एवं निरपेक्ष का विचार उत्पन्न होता है, किन्तु इस प्रकार की बौद्धिक कल्पना करने के लिए कोई तार्किक आधार नहीं है और एक प्रकार की बौद्धिक छलांग है तथा आतार्किक एवं निराधार है। जिस सीमित विश्व के आधार पर ईश्वर का अनुमान किया जाता है, वह असीमित नहीं हो सकता है; क्योंकि कारण में भी उतने ही गुण माने जाते हैं; जितने कार्य में होते हैं।

11.9 बर्टेण्डरसेल द्वारा विश्वमूलक युक्ति का खण्डन

कारणमूलक तर्क के सम्बन्ध में बर्टेण्डरसेल ने यह सवाल उठाया है कि हम क्यों यह मान लें कि ईश्वर की अस्तित्व है। वस्तुतः ईश्वर को विश्व का आदि कारण वे दार्शनिक मानते हैं जो जगत् की बौद्धिक व्याख्या को संभव मानते हैं। हम यह क्यों मान लें कि जगत् की बौद्धिक व्याख्या संभव है।

कुछ दार्शनिकों का यह भी कहना है कि कारण मूलक परिभाषा से भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती है। यदि बर्फेन हर्ड के अनुसार यह मान लिया जाए कि कारणता दो वस्तुओं का साहचर्य है; तो इससे भी ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि हम उन्हीं घटनाओं का कारण के रूप में व्याख्या कर सकते हैं; जिनका हम अनुभव करते हैं, इसलिए कारणता का प्रयोग घटनाओं पर किया जा सकता है, ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए नहीं।

11.10 विश्वमूलक युक्ति का इमान्युलकाण्ट द्वारा खण्डन

जर्मन दार्शनिक इमान्युल काण्ट ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये कारणमूलक युक्ति की आलोचना करते हुए कहते हैं कि—“यदि कारणता के सम्प्रत्यय वैध हैं, तो इससे ईश्वर के सत्ता की सिद्धि होती है; किन्तु यहाँ कठिनाई यह है कि ईश्वर एक अतीन्द्रिय सत्ता है, जिसपर कारणता नामक विकल्प आरोपित नहीं किया जा सकता है। कारण मानने पर ईश्वर को व्यावहारिक जगत् की वस्तु मानना पड़ेगा, जो उचित नहीं है। दूसरे ईश्वर एक पूर्णसत्ता है और पूर्ण सत्ता किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती है। ऐसी स्थिति में कारण-कार्य का भाव ही कैसे उत्पन्न हो सकता है।” अतएव काण्ट यह दिखाते हैं कि विश्वमूलक या कारणमूलक युक्ति हमें एक उभयतः पाश की ओर अग्रसर करती है—

1. यदि ईश्वर कार्य-कारण शृंखला की एक कड़ी है, तो वह कभी पारमार्थिक नहीं कहा जा सकता।
2. यदि ईश्वर पारमार्थिक नहीं है, तो वह जगत् का आदिकारण नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त उभयतः पाश के आधार पर काण्ट यह निष्कर्ष निकालते हैं कि— “अनुभवातीत सत्ता के ऊपर

बुद्धि विकल्पों के प्रयोग के लिए कोई मापदण्ड नहीं है; किन्तु सृष्टि मूलकप्रमाण में हमें अनुभव जगत से परे जाने में समर्थ बनाने के लिए इसका प्रयोग किया गया है। 'आवश्यक' एवं 'अनिवार्य' पदों का प्रयोग केवल तर्क वाक्यों में होना चाहिए”

अबतक ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए कारणमूलक युक्ति का समीक्षात्मक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि कारण—कार्य नियम से केवल यही प्रमाणित हो रहा है कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होता है। ईश्वर की सिद्धि के लिए दिये गये कारण मूलक युक्ति में पहले तो विश्व की व्याख्या के लिए कारण—कार्य शृंखला का त्याग कर दिया जाता है। वास्तविकता यह है कि जो अनवस्था दोष विश्व के बारे में हो सकता है, वही दोष ईश्वर के बारे में भी हो सकता है। जो कारण—कार्यसम्बन्धी प्रश्न विश्व के विषय में उठाये जा सकते हैं; वही ईश्वर के सम्बन्ध में उठाये जा सकते हैं। अतएव विश्वमूलक प्रमाण भी ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता है।

11.11 निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विश्व मूलक युक्ति के जितने भी रूप हैं, किसी न किसी प्रकार की विसंगति से परिपूर्ण हैं। सबकी अपनी सीमाएँ हैं। परिणाम स्वरूप वे अविश्वसनीय, दोष पूर्ण होने के कारण अस्वीकार्य हैं। जॉन हास्पर्स ने विश्वमूलक युक्ति पर अपनी पुस्तक (An Introduction to Philosophical Analysis) में टिप्पणी करते हुए कहा है कि— “यदि कारणमूलक युक्ति के द्वारा ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है, तो वह ईश्वर की इस विशेषता के अतिरिक्त कि वह विश्व का कारण है और किन्हीं अन्य विशेषताओं की स्थापना नहीं कर पाता।” विश्वमूलक युक्ति के विषय में प्रो० केयर्ड तो यहाँ तक कहते हैं कि— “यह युक्ति ससीम आत्माओं का खण्डन कर ईश्वर और जगत के बीच खाई उपस्थित करता है; जो धार्मिक भावना के विकास में बाधक है।”

11.12 सारांश

प्राचीन काल से ही विश्वमूलक प्रमाण धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों के लिए सर्वाधिक लोकप्रिय प्रमाण रहा है। विश्वमूलक प्रमाण में विश्व को एक कार्य मान कर उसके कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। विश्वमूलक प्रमाण का प्रयोग ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए तीन प्रकार की युक्तियों की सहायता ली गयी है जो इस प्रकार हैं—

1. गतिमूलक तर्क (Argument from motion)

विश्वमूलक प्रमाण के इस तर्क में यह दिखाया गया है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु गतिशील है। कोई भी वस्तु स्वतः गतिशील नहीं हो सकती है। प्रत्येक वस्तु में गति का कारण कोई दूसरी सत्ता है; दूसरी सत्ता का कारण कोई तीसरी सत्ता और तीसरी सत्ता का कारण कोई चौथी सत्ता है। इस प्रकार गतियों की अनन्त परम्परा है; जिसके कारण अन्ततः अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा और इसी अनवस्था दोष से बचने के लिए सम्पूर्ण गतियों के आदि कारण के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य माना जाता है।

2. आकस्मिकतामूलक या आपातिकतामूलक तर्क (Argument from contingency)

विश्वमूलक प्रमाण के आकस्मिकता मूलक तर्क में यह दिखाया गया है कि जगत् की जितनी भी वस्तुएँ हैं वे आकस्मिक हैं। विश्व की किसी भी वस्तु का होना या न होना अनिवार्य नहीं है। विश्व की सभी वस्तुएँ अपनी आकस्मिक सत्ता रखने के कारण किसी दूसरी सत्ता पर निर्भर हैं। इसलिए विश्व की आपातिक वस्तुओं का मूल कारण कोई आपातिक सत्ता नहीं हो सकती है। अतएव एक ऐसी सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है; जो समस्त आकस्मिकताओं आधार होते हुए भी स्वयं अनिवार्य है और वह सत्ता ईश्वर है।

3. कारणमूलक तर्क (Causal Argument)

इस सिद्धान्त में यह दिखाया गया है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। यह

विश्व अनन्त एवं जटिल है। अतएव इस विश्व का मूलकारण भी कोई ऐसी ही सत्ता हो सकती है; जो अनन्त, असीम और स्वयंभू हो। ईश्वर ही ऐसी सत्ता है जो स्वयंभू और आत्मनिर्भर है और विश्व रूपी कार्य का मूलकारण है। विश्वमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क देने वाले दार्शनिकों में प्लेटों, अरस्तु, एक्वास, लाइब निट्ज, जी०एच० जॉयस आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। जबकि इस युक्ति के खण्डन कर्त्ताओं दार्शनिकों में डेविड ह्यूम, काण्ट, बर्टेण्डरसेल आदि दार्शनिकों का प्रमुख स्थान है।

11.13 प्रश्न बोध

1. कारण-कार्य पर आधारित विश्वमूलक प्रमाण की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. आपातिकता पर आधारित विश्वमूलक प्रमाण की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
3. विश्वमूलक प्रमाण के विरुद्ध विभिन्न दार्शनिकों के दियेगयेतर्कों की समीक्षा कीजिए।

11.14 उपयोगीपुस्तक

1. समकालीन धर्म दर्शन— डॉ० याकूब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूलसमस्याएँ — डॉ० वेदप्रकाश वर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन — डॉ० शिव भानु सिंह

इकाई-12 प्रयोजनमूलक युक्ति

इकाई की रूपरेखा—

- 12.0 उद्देश्य
- 12.1 प्रस्तावना
- 12.2 ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रयोजनमूलक प्रमाण
- 12.3 Teleological शब्द का शाब्दिक अर्थ
- 12.4 प्रमुख भारतीय दार्शनिक एवं सन्त एकानस का उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क
- 12.5 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में विलियम पेले का तर्क
- 12.6 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में जेम्स मार्टिनों का तर्क
- 12.7 मिल एवं चार्ल्स डार्विन द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन
- 12.8 डेविड ह्यूम एवं इमान्युलकाण्ट द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन
- 12.9 केअर्ड के द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन
- 12.10 पिंगल पेटिसन एवं बोसां के के द्वारा पेले और मार्टिनो के तर्क का समर्थन
- 12.11 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में एफ0आर0 टेनेन्ट का तर्क
- 12.12 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में रिचर्ड टेलर का तर्क
- 12.13 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में ए0 आई0 ब्राउन का तर्क
- 12.14 उद्देश्यमूलक प्रमाण का मिल एवं के अर्ड द्वारा खण्डन
- 12.15 उद्देश्यमूलक प्रमाण पर डेविड ह्यूम की टिप्पणी
- 12.16 निष्कर्ष
- 12.17 सारांश
- 12.18 प्रश्न बोध
- 12.19 उपयोगी पुस्तकें

12.0 उद्देश्य

धर्मपरायण व्यक्तियों एवं धर्म दार्शनिकों के लिए ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना एक प्रमुख समस्या रही है। सभी धर्मपरायण व्यक्तियों एवं धर्मदार्शनिकों ने यह पाया कि ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए सत्तामूलक प्रमाण और विश्वमूलक प्रमाण असफल रहे हैं। जितने भी तर्क सत्तामूलक प्रमाण द्वारा दिया गया है; उसके पक्ष में उतने ही तर्क विपक्ष में भी दिये गये हैं। ऐसी स्थिति में धर्मपरायण व्यक्तियों एवं धर्मदार्शनिकों के द्वारा ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए उद्देश्यमूलक प्रमाण में विश्व में विद्यमान व्यवस्था के आधार पर उसे सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत इकाई में इसी बात का आकलन करने का प्रयास किया गया है कि क्या विश्व में पायी जानी वाली व्यवस्था बिना किसी अपरिमित बुद्धि वाले के बिना संभव है। विश्व जितना सुव्यवस्थित है और जो सुसंगतता एवं सामंजस्य है; वह किसी अपरिमित बुद्धि वाले रचयिता के बिना संभव नहीं हो सकती है। इस इकाई का उद्देश्य विश्व में विद्यमान सामंजस्य और सुव्यवस्था के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना है।

12.1 प्रस्तावना

धर्म के इतिहास के दृष्टिकोण से उद्देश्य मूलक प्रमाण को प्राचीनतम सबसे अधिक लोकप्रिय और सर्वमान्य प्रमाण कहा जा सकता है। प्लेटो ने यह कहा है कि नक्षत्र, ग्रह और तारे इस प्रकार गति करते रहते हैं; मानों इन्हें किसी बुद्धि ने इस प्रकार उन्हें संचालित किया है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के पश्चात् अनेक दार्शनिकों प्रकृति में विद्यमान व्यवस्था ईश्वर के द्वारा संभव माना है। सन्तपॉल का यह स्पष्ट रूप से कहना है

कि ईश्वर की नित्यता और उसका आदृश्य रूप प्रकृति की रचना में प्रकट होता है। हेनरी मोर (सन् 1614–1687) विलियम पेले (सन् 1743 से 1805), जेम्समार्टिनो (सन् 1805 से 1900) और आधुनिक युग के प्रमुख दार्शनिक एफ० आर० टेनैन्ट (सन् 1866–1957) ने ईश्वर की सत्ता की सिद्धि के लिए उद्देश्य मूलक प्रमाण को एक सम्यक् दार्शनिक युक्ति के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु ऐसे अनेक दार्शनिक हैं, जिन्होंने उद्देश्य मूलक प्रमाण का खण्डन करके इसकी लोकप्रियता को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया है। ह्यूम, मिल, काण्ट इत्यादि ऐसे दार्शनिक हैं, जिन्होंने उद्देश्यमूलक प्रमाण का सशक्त खण्डन किया है।

12.2 ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रयोजनमूलक प्रमाण

प्रयोजनमूलक तर्क को रचना मूलक तर्क भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें सृष्टि की रचना के आधार पर बुद्धि दैवी सृष्टि कर्ता का अनुमान करती है। यह प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाण माना जाता है क्यों कि केवल दार्शनिकों ने हीन हीं; बल्कि वैज्ञानिकों ने भी इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। ह्यूम तथा काण्ट जैसे दार्शनिकों का स्पष्ट मानना है कि— “अन्य तर्कों की अपेक्षा यह तर्क आदर के साथ उल्लेखनीय है। चूँकि यह विश्व में निहित प्रयोजन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है, इसलिए यह प्राचीनता स्पष्टता एवं विवेकशीलता आदि विशेषताओं से युक्त है।”

12.3 Teleological शब्द का साब्दिक अर्थ

जहाँ तक Teleological शब्द के शाब्दिक अर्थ का सवाल है तो यह Teleological शब्द ग्रीक भाषा के Telos से बना है। जिसका अर्थ प्रयोजन है। कुछ दार्शनिकों का यह मानना है कि यह तर्क सृष्टिमूलक प्रमाण का ही विकसित रूप या विस्तार का प्रतीक है। इसमें भी विश्व के स्वरूप से उसके निर्माता का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु यह मत उचित नहीं है; क्योंकि सृष्टि मूलक तर्क में जहाँ सृष्टि के प्रथम कारण अथवा स्रोत का अनुमान किया जाता है; वहाँ प्रयोजन मूलक तर्क में सृष्टि प्राप्त होता है। कारणमूलक तर्क बाह्य-कारण के विचार का द्योतक है; जब कि प्रयोजन मूलक तर्क में प्रयोजन या उद्देश्य का प्रत्यय निहित है, तो दो प्रश्न उठते हैं। विश्व में परिवर्तन ‘कैसे’ एवं ‘क्यों’ संभव है? प्रथम प्रश्न पर विचार सृष्टि मूलक प्रमाण में किया जाता है, किन्तु जब यह विचार किया जाता है कि यह परिवर्तन क्यों होता है तो इसका उत्तर प्रयोजन मूल तर्क द्वारा प्राप्त होता है। अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता।

12.4 प्रमुख भारतीय दार्शनिक एवं सन्त एक्वीनास का उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

भारतीय दर्शन में न्याय-वैशेषिक, योग्य एवं अद्वैत वेदान्त में इस प्रमाण का उल्लेख मिलता है। पाश्चात्य दर्शन में सर्व प्रथम प्लेटो तदुपरान्त मध्यकालीन दार्शनिक एक्वीनास ने इस तर्क का प्रयोग किया। प्रयोजन मूलक तर्क के नाम से ही यह स्पष्ट होता है कि इसके द्वारा विश्व में विद्यमान व्यवस्था, अभियोजन तथा प्रयोजन के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रमाण के समर्थक दार्शनिकों का यह मानना है कि— “विश्व आकस्मिक या अन्धाधुन्ध घटना नहीं है; क्योंकि इसके अन्दर इतनी योजना और सम्बद्धता है कि सभी स्थलों पर अभियोजना एवं अभिकल्प दिखलायी पड़ता है। इसलिए यह विश्व बुद्धिमान यंत्रकार का अभिकल्प है। चूँकि इस विश्वरूपी यंत्र में इतनी जटिलता, इतनी गहनता एवं इतनी सूक्ष्मता दिखलायी पड़ती है कि इस विश्व को बनाने वाला अपरिमित बुद्धि वाला ही हो सकता है। अतः इस विश्व का रचयिता अपरिमित, निरपेक्ष सत्ता है, जिसे ईश्वर की संज्ञा दी जासकती है।”

12.5 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में विलियम पेले का तर्क

प्रयोजनमूलक तर्क का ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए सर्वाधिक स्पष्ट रूप में प्रयोग पाश्चात्य दार्शनिक विलियम पेले ने अपनी पुस्तक ‘नेचुरलथियोलॉजी’ में किया। उनका कहना है कि— “समस्त विश्व एक जटिल यंत्र है; जिसकी सूक्ष्म यांत्रिकता इसके अंग-प्रत्यंग में अभिलक्षित होती है। क्या इस प्रकार का जटिल एवं विशाल यंत्र अपने आप से उत्पन्न हो सकता है और फिर यह अपने आप इतना सुचारु रूप से संचालित रह सकता है और फिर यह अपने मत की पुष्टि के लिए तर्क देते हुए कहते हैं कि, मान लीजिए यदि

किसी को कोई घड़ी निर्जन रेगिस्तान में पड़ी हुई मिलती है; तो क्या कोई यह कल्पना कर सकता है कि यह घड़ी अपने आप बालुका से वायु के प्रचण्ड थपेड़े से उत्पन्न हुई है। क्या इसके काँटे, स्प्रिंग, कुंजी इत्यादि अपने आप उत्पन्न हो सकती है और अपने आप आपस में इस प्रकार सम्बद्ध हो सकती है कि वह नियमित रूप में चलकर सही-सही समय बतावे। यदि एक छोटे से यंत्र घड़ी के बारे में यह बात नहीं सोची जा सकती; तो इस विश्व के सम्बन्ध में जिसके कण-कण में सूक्ष्म एवं गहन जटिलता छिपी हुई है कैसे सोचा जा सकता है कि यह अपने आप उत्पन्न होकर व्यवस्थित रूप में युगों से संचालित है? अपने वर्तमान रूप में ब्रह्माण्ड का अस्तित्व इसके बुद्धिमान रचयिता के अस्तित्व सिद्ध करता है और इसी रचयिता को ईश्वर की संज्ञा दी जाती है। परन्तु यदि उसी रेगिस्तान में एक चट्टान मिलता है; तो हम उसके विषय में इस प्रकार का अनुमान नहीं लगा सकते; क्यों कि उसके भागों में न कोई व्यवस्था है और न ही उसका कोई प्रयोजन है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्रकृति में जो सन्तुलन बना हुआ है और इसमें जो सुसम्बद्धता देखने को मिलती है, इसके आधार पर हमें एक सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता को मानने के लिए विवश होना पड़ता है। विलियम पेले के अनुसार—

- (1) रेगिस्तान या निर्जन प्रदेश में अचानक घड़ी मिलने पर हम उसके रचनाकार का अनुमान करते हैं। उसी प्रकार विश्व में व्याप्त अद्भुत व्यवस्था एवं प्रयोजन को देखकर हम विश्व के प्रायोजक का अनुमान लगाते हैं। प्रकृति में सर्वत्र ऐसी व्यवस्था देखने को मिलती है, जो विशिष्ट रचनाकार या प्रायोजक का द्योतक है।
- (2) यदि घड़ी के कुछ भाग ठीक प्रकार से कार्य नहीं करते; तो इससे उस पर आधारित हमारा घड़ी साज सम्बन्धी अनुमान अयुक्त संगत नहीं सिद्ध होता; क्योंकि घड़ी की उपस्थिति मात्र उसके निर्माता को अनिवार्यतः प्रमाणित करती है। इसी प्रकार यदि जगत का कार्य भी सुव्यवस्थित ढंग से न हो; तो भी मानना है कि इसकी रचना किसी सर्वज्ञ सत्ता द्वारा हुई है; किन्तु इसमें कुछ न्यूनता है।
- (3) यदि हम उस घड़ी के कुछ भागों के कार्य को भलीभाँति नहीं समझ पाते तो इससे भी हमारा घड़ी साज विषयक अनुमान गलत प्रमाणित नहीं होता; क्यों कि इसके लिए घड़ी के सभी भागों के कार्य को ठीक-ठीक समझना अनिवार्यतः नहीं है। इसी प्रकार यदि जगत की कुछ वस्तुएँ ऐसी हो जिनकी हमें जानकारी न हो तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इसकी रचना किसी सर्वज्ञ सत्ता द्वारा नहीं हुई है।

विलियम पेले पुनः यह भी तर्क देते हैं कि यदि हम प्रकृति की वस्तुओं विशेषांक रमानव शरीर को देखें तो स्पष्ट होता है कि इसका कोई न कोई स्रष्टा अवश्य रहा है। यदि हम केवल आँखों की संरचना पर विचार करें; तो उसकी जटिलता एवं उद्देश्य से सिद्ध होता है कि इसकी रचना अकस्मात् नहीं हुई है; बल्कि इसकी रचना किसी विशेष उद्देश्य से किसी बुद्धि पूर्ण सत्ता ने की है। यही सत्ता ईश्वर है। जगत में सामंजस्य व क्रमबद्धता (Harmony and Order) मिलती है। सामंजस्य एवं क्रमबद्धता वही उत्पन्न कर सकता है; जो बुद्धि पूर्ण हो। बुद्धि हित प्राकृतिक वस्तुएँ किसी भी प्रकार की व्यवस्था उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। अतः चाहें किसी विशेष वस्तु की रचना की बात हो या जगत् की; दोनों के आधार पर सिद्ध होता है कि किसी बौद्धिक सत्ता ने इसकी रचना की है। यही बौद्धिक सत्ता ईश्वर है।

12.6 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में जेम्स मार्टिनो का तर्क

जेम्समार्टिनो (James Martineau) ने पेले द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त तर्क को और भी अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है। इनका यह मानना है कि विश्व स्वतः नहीं उत्पन्न हुआ है। इसका निर्माणकर्ता को ईश्वर अवश्य है। विश्व की रचना के पीछे उसका उद्देश्य है। यह उद्देश्य विश्व की व्यवस्था को देख कर ही ज्ञात हो जाता है। मार्टिनो के अनुसार बुद्धि तथा प्रयोजन मूलक व्यवस्था के कुछ लक्षण हैं जैसे चयन, संयोग और क्रमिकता। ये सभी लक्षण विश्व के जीवों के शरीर की रचना तथा अभियोजन में मिलते हैं। उदाहरणार्थ—जीवों के अंगों का चुनाव उनकी परिस्थिति के अनुकूल ही किया गया है। हिंसक जानवरों के तेज पंजे, चिड़ियों के लिए पंखों तथा जल में रहने वाले जीवों के श्वास के अंग उनकी परिस्थिति के अनुकूल ही चुने गये हैं। इस चुनाव से असीम बुद्धि की ओर संकेत मिलता है। यही नहीं जीवों के अंगों में संयोग तथा क्रमिकता पूर्ण व्यवस्था को देखकर ही प्रमाणित किया जाता है कि इस विश्व का रचयिता कोई महान शक्ति है, जिसने इस विश्व को बुद्धिमत्ता से व्यवस्थित किया है। यही सत्ता ईश्वर है।

12.7 मिल एवं चार्ल्स डार्विन द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन

परन्तु मिल तथा चार्ल्स डार्विन के विकासवाद और उसके पश्चात् प्राणि शास्त्र में होने वाले वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने पेले तथा मार्टिनों के प्रयोजनवादी तर्कों का सशक्त रूप में खण्डन किया है। विकासवादी मान्यता के अनुसार सृष्टि में प्राकृतिक नियमों के अनुसार स्वतः विकास हो रहा है। भौतिक एवं प्राणी जगत में 'योग्यतम की विजय' तथा 'प्राकृतिक चयन' जैसे नियमों के अनुसार सृष्टि का निरन्तर विकास हो रहा है। इसमें किसी चेतन अथवा प्रायोजन शक्ति का कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार विकासवादी मान्यता में ईश्वर की धारणा आवश्यक नहीं है।

12.8 डेविड ह्यूम एवं इमानुअल काण्ट द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन

डेविड ह्यूम अपनी रचना 'डायलाग्स कनसर्निंग रिलिजन' में स्पष्ट किया है कि— "जीवन संग्राम में संरक्षित रहने का यह शर्त है कि जीव अपनी परिस्थिति के साथ अभियोजित रहे। यदि प्राणियों के अंग-प्रत्यंग की समायोजनापूर्ण व्यवस्था न होती तो वे युगान्तरों के उथल-पुथल में अनुजीवित रह ही नहीं सकते थे। इसलिए यह विश्व स्वरचित, स्वसंचालित व्यवस्था पूर्ण सत्ता है और इस व्यवस्था की व्याख्या करने के लिए किसी चेतना मय शक्ति की प्राक्कल्पना करना व्यर्थ है।"

डेविड ह्यूम एवं इमानुअल काण्ट ने विलियम पेले एवं मार्टिनों के प्रयोजन मूलक तर्क की कटु आलोचना की है। डेविड ह्यूम ने प्रयोजनात्मक युक्ति के विरुद्ध निम्न त्रुटियों की ओर संकेत किया है—

- (1) इस युक्ति में विश्व को देख कर ईश्वर को विश्व के स्रष्टा के रूप में स्वीकार किया गया है, ह्यूम के अनुसार विश्वरूपी कार्य जिसे देखकर ईश्वर को कारण के रूप में चित्रित किया गया है, ससीम है। ससीम कार्य से ससीमकारण की हीस्थापना हो सकती है। कारण में उन्हीं गुणों को आरोपित किया जा सकता है जो कार्य में निहित है। प्रयोजनात्मक युक्ति में इसके विपरीत विश्व जो एक सीमित कार्य है, के आधार पर ईश्वर अर्थात् असीमित कारण को स्थापित किया गया है। इस प्रकार इस युक्ति में कार्य-कारण नियम का उल्लंघन किया गया है, जिसके फलस्वरूप यह युक्ति दोष पूर्ण है।
- (2) प्रयोजनमूलक युक्ति जिस साम्यानुमान पर आधारित है, वह अत्यन्त ही दुर्बल एवं दोषपूर्ण है। सिर्फ वही साम्यानुमान वैध माना जा सकता है, जिसके असंख्य उदाहरण उपलब्ध हों तथा जिसकी पुनरावृत्ति संभव हो। उदाहरण स्वरूप इसे हम यह भवन निर्माण कह सकते हैं कि एक मिलकर बनाया होगा। इसका कारण यह है कि इस घटना के अनेकों उदाहरण मिलते हैं अर्थात् इस घटना की पुनरावृत्ति संभव है। इस प्रकार भवन को देखकर हम उसके निर्माता शिल्पकार की सत्ता का अनुमान कर सकते हैं। परन्तु यही बात हम ईश्वर सम्बन्धी साम्यानुमान के बारे में नहीं कह सकते। क्योंकि अनेक प्रयासों के बावजूद बार-बार हम ईश्वर द्वारा विश्व को निर्मित होते नहीं देख सकते। विश्व विषयक सृष्टि एक ऐसी घटना है, जिसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। अतः भवन शिल्पकार तथा विश्व स्रष्टा में पर्याप्त साम्य नहीं है, जिसके फलस्वरूप विश्व से विश्व स्रष्टा ईश्वर अनुमित किया जा सके।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि प्रयोजनात्मक तर्क के आधार पर एक ईश्वर की सत्ता को नहीं प्रमाणित किया जा सकता है। ईश्वर की एकात्मकता के विरुद्ध ह्यूम के इस मत को फिलो ने संवाद में इस प्रकार व्यक्त किया है— "एक मकान या जहाज को अनेकों व्यक्ति मिलकर बनाते हैं; विश्व तो और भी जटिल है। यह क्यों न मानलिया जाए कि विश्व की रचना अनेकों देवताओं ने मिलकर ही की है; जो सीमित सामर्थ्य वाले हैं।"

कुछ दार्शनिकों का कहना है यदि हम यह मान भी लें कि सम्पूर्ण विश्व में कोई प्रयोजन निहित है; तबभी यह सिद्ध नहीं होता कि इस प्रयोजन के मूल में कोई चेतन शक्ति या ईश्वर का संकल्प निहित है। यदि हम विश्व के प्रयो जनकर्ता को ईश्वर मानते हैं; तो प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर में प्रयोजन या बुद्धि कहाँ से आयी? जिस प्रकार घड़ी साज को घड़ी के निर्माण के लिए उपादान सामग्री, प्रयोजन या बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार ईश्वर द्वारा निर्मित विश्व में उपादान, प्रयोजन एवं बुद्धि की आवश्यकता पड़ी होगी। इस प्रकार जो तर्क विश्व के बारे में उठाया जाता है और जिसके अनुसार यह माना जाता है कि विश्व में व्यक्त व्यवस्था एवं प्रयोजन ईश्वर से प्राप्त होते हैं, वही तर्क ईश्वर के बारे में किया जाता है कि ईश्वर में ये तत्व

कहाँ आये? परम्परानुसार प्रयोजन मूलक तर्क को सृष्टिमूलक प्रमाण से जोड़ने की चेष्टा की जाती है; किन्तु हम इन तर्कों को कितना ही जोड़ने की चेष्टा करें; इनसे ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

इमान्युल काण्ट के अनुसार यदि प्रयोजनमूलक युक्ति वैध है; तो भी केवल इससे ऐसी सत्ता का अस्तित्व सिद्ध होता है; जो सृष्टि को एक निश्चित आकार प्रदान करता है, उसकी उत्पत्ति नहीं करता। इस तर्क से एक शिल्पकार की सत्ता सिद्ध होती है, ईश्वर की नहीं। इसलिए जब तक यह सिद्ध नहीं होता है कि यह अनिवार्य सत्ता है और अनिवार्य सत्ता पूर्ण सत्ता है, तबतक ईश्वर का अस्तित्व भी इस युक्ति के द्वारा नहीं सिद्ध होता है। यह तभी संभव हो सकता है; जब प्रत्यय मूलक एवं सृष्टि मूलक युक्तियाँ वैध हों। वास्तविकता यह है कि हमारा जगत सम्बन्धी अनुभव सीमित है और सीमित अनुभव के निष्कर्ष सम्पूर्ण जगत के परिचायक नहीं हो सकते। काण्ट यह स्वीकार करते हैं कि— “इस अनुमान के आधार पर विश्व के रचयिता की सत्ता का अवश्य संकेत मिलता है; किन्तु यह रचनाकार धर्म में स्वीकृत सर्वशक्तिमान ईश्वर नहीं माना जा सकता। यह रचनात्मक उपलब्धि तथा उत्पादन सामग्री आदि के द्वारा सीमित है। इस तर्क से एक शिल्पकार की सत्ता सिद्ध होती है; ईश्वर की नहीं।”

12.9 केयर्ड के द्वारा उद्देश्यमूलक प्रमाण का खण्डन

केयर्ड के अनुसार “यह तर्क धार्मिक भावना को ठेस पहुँचाता है। बाह्य शिल्पकार का विचार पूर्ण ईश्वर के विचार के प्रतिकूल है। अतः यह धार्मिक भावना के अनुकूल ईश्वर की स्थापना करने में असमर्थ सिद्ध होता है। यह ईश्वर के मानवीकरण की प्रवृत्ति का द्योतक है। इसमें ईश्वर में शिल्पकार जैसी विशेषताएं आरोपित की जाती हैं। अधिक से अधिक यह ऐसा सादृश्यानुमान है; जिसमें ईश्वर की संभावना प्रकट होती है, किन्तु प्रामाणिकता नहीं।”

12.10 प्रिंगल पेटिसन एवं बोसांके के द्वारा पेले और मार्टिनो के तर्क का समर्थन

परन्तु उपर्युक्त खण्डनों से बचने के लिए हेगल से प्रभावित हो कर प्रिंगल पेटिसन तथा बोसांके ने पेले तथा मार्टिनो की तरह विकास को जीवों तक सीमित न रखकर जागतिक रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने ने बताया कि विश्व के विकास की व्याख्या यांत्रिक नियमों के आधार पर नहीं की जा सकती; क्योंकि विश्व में प्राप्त जीवन की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जैसे; प्रजनन—प्रक्रिया, स्वतः—संचालन की क्रिया, स्वतः स्फूर्ति तथा स्व उद्धार आदि, जो यांत्रिकता के सर्वथा विरुद्ध हैं। यही नहीं मानव में नैतिकता विकास, अनुशासन, सहयोग और इनसेफलित विज्ञान, कला साहित्य, नीति एवं धर्म सिद्ध करते हैं कि मानव जीवन में मूल्यों का अस्तित्व है। विश्व इन्हीं मूल्यों पर आधारित है। बुद्धि से ही इन मानवीय मूल्यों का विकास सिद्ध होता है। यदि हम समाष्टि रूप में विश्व पर दृष्टिपात करें; तो उसके पीछे मूल्य युक्त महान बुद्धिमान शक्ति अर्थात् ईश्वर को ही प्राप्त करेंगे।

12.11 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में एफ०आर० टेनेन्ट का तर्क

एफ० आर० टेनेन्ट (F.R.Tennant) ने अपनी कृति ‘Philosophical Theology’ में इस तर्क को नवीन रूप में प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार विशेष वस्तुओं की रचना यद्यपि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं करती; फिर भी सम्पूर्ण सृष्टिपर एक साथ विचार करने से ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य हो जाता है। विभिन्न कारणात्मक नियमों और विभिन्न संयोगों (Chances) के क्रियाशील रहने पर भी सृष्टि की एकता सुरक्षित रहती है। सृष्टि जो भी उत्पत्ति करती है; तो वह पहले से अधिक विकसित होती है। यदि कोई अवस्था उपयुक्त नहीं है; तो वह समाप्त हो जाती है। सृष्टि के समन्वित विकास से प्रकृति में सौन्दर्य एवं नैतिकमूल्य संभव होता है। इसको दृष्टि में रखते हुए सृष्टि की व्याख्या करते हुए इस प्राक्कल्पना को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि सृष्टि के मूल में कोई चेतन तत्त्वनिहित है। यही तत्त्व ईश्वर है।

12.12 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में रिचर्ड टेलर का तर्क

स्मकालीन दार्शनिकों में ‘रिचर्ड टेलर (Richard Teylor) का कहना है कि यदि हम किसी शहर के नजदीक हैं और वहाँ परपत्थर के टुकड़े इस प्रकार पड़े हैं कि उनसे यह वाक्य बनता है कि ‘Welcome to the city’ अर्थात् शहर में आपका स्वागत है। इसे हम दो रूपों में ले सकते हैं—

- (1) या तो हम माने कि प्राकृतिक कारणों से पत्थरों को यह आकार मिल गया है; या

(2) फिर यह माने कि किसी न किसी ने जानबूझ कर पत्थरों को इस क्रम में रखा है।

प्रथम विकल्प को मानने पर हम इसे सार्थक वाक्य नहीं मानेंगे; लेकिन द्वितीय स्थिति में वाक्य सार्थक कहो जाता है। यह नहीं हो सकता कि हम वाक्य को सार्थक मानें और किसी लेखक के अस्तित्व को स्वीकार न करें। यही बात हमारे अंगों के लिए भी सत्य है। आँखों के द्वारा हम सूचनाएँ प्राप्त करते हैं और उन पर निर्भर रह कर हम अपनी योजनाएँ बनाते हैं। यदि आँखें केवल आकस्मिक रूप से उत्पन्न हुई हैं; तो उन्हें हम किसी सूचना के लिए विश्वसनीय नहीं मान सकते। यदि हम उन्हें विश्वसनीय मानते हैं; तो इसका अर्थ है कि उन्हें किसी प्रयोजन के लिए बनाया गया है और यह प्रयोजन कोई प्राकृतिक वस्तु या व्यक्ति का नहीं है; बल्कि एक अति प्राकृतिक व्यक्ति का है; जिसने आँखों तथा अन्य इन्द्रियों की रचना की। यही सत्ता ईश्वर है।

प्रयोजन मूलक युक्ति के विरुद्ध कुछ दार्शनिकों का मानना है कि जगत की रचना अणुओं से हुई है; किसी व्यक्ति या ईश्वर द्वारा इसकी रचना नहीं हुई है। ऐसा नहीं कि ईश्वर ने पहले प्राणियों को बनाया और बाद में जगत को; बल्कि ओजोन में जितने प्राणी रह सकते थे; उत्पन्न होगये हैं। प्रायः जो लोग घड़ी से जगत के रचना की तुलना करते हैं; उन्हें जगत के रचना की तुलना प्रकृति से करना चाहिए। मनुष्य द्वारा रचित वस्तुओं से जगत की तुलना नहीं की जा सकती।

कुछ दार्शनिकों का भी मानना है कि सम्पूर्ण विश्व पर दृष्टिपात करने पर यह पता चलता है कि विश्व में अव्यवस्था का आधिपत्य है। इस संसार में सुख के साथ दुःख भी सर्वत्र व्याप्त है। यह निर्विवाद तथ्य है कि अनेक भयंकर प्राकृतिक आपदाओं तथा घातक रोगों के फलस्वरूप इस संसार के समस्त प्राणी व्यापक रूप से तीव्र पीड़ा तथा दुःख का अनुभव करते हैं। यह विश्व व्यवस्था में व्याप्त अनेक अपूर्णताओं का ही प्रतिफल है। यदि इस संसार का रचयिता ईश्वर सचमुच सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा अत्यन्त दयालु होता; तो निश्चय ही इसमें इतनी अधिक पीड़ा न होती। इस विश्व में व्याप्त तीव्र पीड़ा एवं दुःख से यही प्रमाणित होता है कि यदि ईश्वर इस जगत का रचयिता है; तो वह निश्चय ही सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा अत्यन्त दयालु नहीं है और उसने प्राणियों के सुख के लिए जगत की रचना नहीं की है। इस प्रकार जगत की अपूर्णताएँ यह प्रमाणित करती हैं कि इसका कोई बुद्धिमान रचयिता नहीं है और वह अपूर्ण तथा अपने कार्य में नितान्त अकुशल है।

12.13 उद्देश्यमूलक प्रमाण के पक्ष में ए0आई0 ब्राउन का तर्क

ए0आई0 ब्राउननवीन वैज्ञानिक अनुसन्धानों के आधा रपर यह दिखाया है कि हमारी पृथ्वी के ऊपरी पर्यावरण में विद्यमान 'ओजोन' नामक गैस समस्त प्राणियों तथा पेड़-पौधों के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आवश्यक है। यह ओजोन गैस इस धरती पर प्राणियों के जीवन के लिए एक ऐसा रक्षा-कवच है; जिसके बिना वे एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। इसे पृथ्वी पर समस्त प्राणियों के लिए ईश्वर का वरदान मानते हुए ब्राउन कहते हैं कि— "ओजोन गैस की पतर रचयिता द्वारा पहले से सोच-समझकर किये गये कार्य का महान प्रमाण है। कोई एक ऐसी दीवार जो प्रत्येक प्राणी को मृत्यु से बचाती है—योजना का एक प्रमाण देती है।"

12.14 उद्देश्यमूलक प्रमाण का मिल एवं केअर्ड द्वारा खण्डन

मिल के अनुसार रचना मूलक तर्क से केवल सीमित रचनाकार का अनुमान होता है। इससे धर्म में स्वीकृत ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

केअर्ड ने कहा है कि सृष्टि एक आत्म व्यवस्थित प्रणाली या जैविक संगठन है। जो अपने आन्तरिक नियमों से विकसित हो रही है। यह विचार किसी आनुभाविक-विधि या प्रयोजन वादी अनुमान के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। सीमित दृष्टि से असीमित का अनुमान लगाना संभव नहीं है। जो ईश्वर प्रयोजन मूलक तार्किक अनुमान से सिद्ध होता है; वह एक अपूर्ण ईश्वर है।

12.15 उद्देश्यमूलक प्रमाण पर डेविड ह्यूम की टिप्पणी

डेविड ह्यूम का कहना है कि प्रत्येक विचारक को इतना मसाला मिल जाता है कि वह अपनी कल्पना को अनेक प्रकार की प्राक्कल्पनाओं में दौड़ाये। अनीश्वर वादी कहेगा कि विश्व में कोई विचार पूर्ण व्यवस्था नहीं है। यदि विचार पूर्ण व्यवस्था होती; तो व्यर्थ की बर्बादी, मूल्यों का हनन, रोग, विप्लव आदि अशुभ क्यों होते?

12.16 निष्कर्ष

इस प्रकार जितने उद्देश्य मूलक तर्क दिये गये हैं; उनकी वैकल्पिक व्यवस्था भी संभव है। यदि तार्किक रूप से दिये गये ये सभी प्रमाण सही नहीं हैं; तो इससे यह सिद्ध नहीं है। समकालीन दार्शनिक हास्पर्स के अनुसार 'A Proved God is no God' यह कथन ईश्वर के अस्तित्व के विषय में उचित माना जा सकता है। यह कथन उसी प्रकार है जैसा भारतीय दर्शन में बौद्धों ने माना था कि जिसका कोई आधार या सीमा न हो; उसे तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। वह केवल मानव की कल्पना है।

ग्रीक दार्शनिक जेनोफिनीज ने भी बहुत पहले ही कहा था कि— “यदि बैलों, घोड़ों एवं शेरों के हाथ मनुष्य के समान होते और उन हाथों से वे चित्र बना सकते; तो वे ईश्वर को क्रमशः बैल, घोड़े एवं शेर के रूप में चित्रित करते।”

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि प्रयोजनमूलक प्रमाण भी पूर्ण रूपेण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में असफल रहा है; फिर भी सभी मनुष्यों को आकर्षक लगता है। समस्त विज्ञान हमें सृष्टि कर्ता की धारणा की ओर ले जाते हैं। यही कारण है कि प्रयोजनमूलक प्रमाण पर टिप्पणी करते हुए हा स्पर्स कहते हैं कि— “यह तर्क ईश्वर की सत्ता हेतु प्रस्तुत अन्य सभी तर्कों की अपेक्षा अधिक लोक प्रिय है।”

12.17 सारांश

प्रयोजनमूलक प्रमाण को उद्देश्यमूलक युक्ति अथवा संरचना का तर्क भी कहते हैं। प्रयोजनात्मक युक्ति विश्वमूलक प्रमाण का ही विस्तार है। विश्व मूलक प्रमाण और उद्देश्यमूलक प्रमाण दोनों का प्रस्थान बिन्दु विश्व या प्रकृति है। ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिया गया प्रयोजनमूलक प्रमाण विश्व को एक व्यवस्था या योजना के रूप में देखता है और ईश्वर को इस व्यवस्था का व्यवस्थापक माना है। सभी प्रकार दार्शनिक चाहें वे आस्तिक हो या नास्तिक हो विश्व में निहित अनूठी व्यवस्था, सुविन्यास एवं सामंजस्य को देखकर एक ऐसे ईश्वर की रचनाकार के रूप में परिकल्पना करते हैं जो अपरिमित बुद्धिवाला ही हो सकता है। विश्व के कण-कण में व्यवस्था देखकर लोग अनायास ही मंत्रमुग्ध हो जाते हैं और भावातिरेक में अपरिमित बुद्धि वाले शिल्पकार के रूप में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लेते हैं। सरलता अनुकूलता और परस्पर अभियोजन के कारण यह प्रमाण अपने आरम्भिक काल से लेकर आज भी आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। इस प्रमाण की महत्ता केवल दार्शनिकों ने ही नहीं अपितु वैज्ञानिकों ने भी इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। उद्देश्यमूलक प्रमाण यह सिद्ध करता है कि ईश्वर विश्व में पाये जाने वाले सभी प्रकार के सद्गुणों एवं मूल्यों का संरक्षक है। उद्देश्यमूलक प्रमाण यह स्पष्ट करता है कि विश्व में सर्वत्र अनुभूत योजना, सामंजस्य और संगठन एक अपरिमित बुद्धि वाले रचयिता की ओर संकेत करता है, जिसे धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर कहता है।

12.18 प्रश्न बोध

1. ईश्वर के अस्तित्व के लिए दिये गये उद्देश्यमूलक प्रमाण का विवेचन कीजिए।
2. क्या यह विश्व एक अपरिमित बुद्धि वाले शिल्पकार का अभिकल्प है? विवेचना कीजिए।
3. विश्व में पायी जाने वाली सुव्यवस्थित योजना अपरिमित बुद्धि वाले ईश्वर की सत्ता सिद्ध करती है। व्याख्या कीजिए।

12.19 उपयोगी पुस्तक

1. समकालीन धर्मदर्शन— डॉ० याकूबमसीह
2. धर्मदर्शन की मूलसमस्याएँ— डॉ० वेदप्रकाशवर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन — डॉ० शिवभानु सिंह

इकाई-13 नैतिक युक्ति

इकाई की रूपरेखा—

- 13.0 उद्देश्य
- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 ईश्वर की सिद्धि के लिए नीतिमूलक प्रमाण
- 13.3 नीतिमूलक प्रमाण के संस्थापक काण्ट का मत
- 13.4 भारतीय दर्शन में नीतिमूलक प्रमाण की संकल्पना
- 13.5 जेम्स मार्टिनों का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क
- 13.6 काण्ट का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क
- 13.7 काण्ट के नीतिमूलक प्रमाण का जेम्स मार्टिनों द्वारा समर्थन
- 13.8 पाश्चात्य दर्शन के विभिन्न अन्य दार्शनिकों द्वारा नीतिमूलक प्रमाण का समर्थन
- 13.9 हेस्टिंग्स रैशडल का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क
- 13.10 डेविड ऐल्टनट्रब्लड का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क
- 13.11 डी0 एम0 बेलीका नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क
- 13.12 प्रो0 टेलर का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क
- 13.13 नीतिमूलक प्रमाण का समर्थन करने वाले विभिन्न दार्शनिकों के दृष्टिकोण का निहितार्थ
- 13.14 नीतिमूलक प्रमाण की समीक्षा
- 13.15 जे0 एच0 कार्डिनल एवंन्यूमैन का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क
- 13.16 निष्कर्ष
- 13.17 सारांश
- 13.18 प्रश्नबोध
- 13.19 उपयोगी पुस्तकें

13.0 उद्देश्य

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये प्रत्ययमूलक प्रमाण, विश्वमूलक प्रमाण और उद्देश्यमूलक प्रमाण की तार्किक दृष्टि से असफलता के पश्चात् कुछ धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों ने नीतिमूलक प्रमाण के द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य इस बात का आकलन करना है कि यदि धर्मपरायण व्यक्ति के लिए ईश्वर ही वह सत्ता है; जो सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान, परम शुभ, पूर्ण दया और करुणा का अगार है; तो ऐसे ईश्वर की सिद्धि के लिए नीतिमूलक प्रमाण एक महत्वपूर्ण प्रमाण हो सकता है। प्रायः धर्म का मार्ग नैतिकता से ही हो कर गुजरता है। नैतिकता के मार्ग का अनुगमन कर कोई भी धर्म परायण व्यक्ति अपने अन्तिम धार्मिक लक्ष्य ईश्वर के साक्षात्कार तक पहुँच सकता है। सभी धर्मों में नैतिकता की पराकाष्ठा परम शुभ ईश्वर में ही होती है। इसलिए नैतिकता के बिना न तो कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक प्राणी बन सकता है और न ही वह उस सत्ता तक पहुँच सकता है; जो उसके जीवन का परमसाध्य है और जिसे ईश्वर की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

13.1 प्रस्तावना

ईश्वर के प्रति आस्था रखने वाले धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों ने उपास्य ईश्वर के अस्तित्व को

सिद्ध करने के लिए नीतिमूलक प्रमाण को प्रमुखता दी है। इस प्रमाण को ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए देने वाले धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों का यह मानना है कि न तो कोरा अस्तित्वपूर्ण ईश्वर और न ही कोरा सृष्टिकर्ता उपासना का विषय बना सकता है; जो शुद्ध संकल्प और पवित्र शुभेच्छा से युक्त हो। इसलिए ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए नीतिमूलक प्रमाण को प्रस्तुत करने वाले धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों का यह स्पष्ट रूप से कहना है कि इस विश्व का आधार शुभ और शिव ईश्वर है। इसलिए नीतिमूलक प्रमाण को मूल्यात्मक भी कहा जाता है; किन्तु इसे शायद ही कोई संज्ञानात्मक स्वीकार करे। बहुत पहले अनेक धर्मपरायण व्यक्तियों एवं दार्शनिकों ने तत्त्वमीमांसा को संज्ञानात्मक माना था, जिसके कारण ये सभी लोग नीतिमूलक प्रमाण तत्त्वमीमांसा मानकर इसे संज्ञानात्मक आभास रूप में समझने लगे थे जो अनुचित था। इस प्रमाण के संस्थापक पाश्चात्य जर्मन दार्शनिक इमान्युल काण्ट माने जाते हैं। परन्तु काण्ट का यह मानना था कि नीतिपूर्ण एवं शुभ ईश्वर हमारी आस्था का विषय है; न कि संज्ञान का। काण्ट ने यह स्पष्ट रूप से कहा था कि “तारों से भरा आकाश और मन के अन्दर नैतिक नियम ऐसी दो वस्तुएँ हैं; जिनपर हम जितनी ही अधिक बार और नित्यता की दृष्टि से विचार करें; उतना ही नवीन रूप से (ईश्वर के प्रति) भाव विभोर और उदात्त भाव का संचार होता है।”

13.2 ईश्वर की सिद्धि के लिए नीतिमूलक प्रमाण

कुछ दार्शनिकों ने नीति परक प्रमाण द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रमाण का आधार मनुष्य का नैतिक अनुभव है। इस प्रमाण के समर्थकों का कहना है कि नैतिक अनुभव की सन्तोषप्रद व्याख्या के लिए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य है। इस प्रमाण को प्रस्तुत करने वाले दार्शनिकों का यह स्पष्ट अभिमत है कि “ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किये बिना हम अपने नैतिक कर्तव्य, नैतिक मूल्यों तथा उच्चतम एवं पूर्ण शुभ की समुचित व्याख्या नहीं कर सकते।”

इस प्रकार नीति मूलक तर्क जैसा कि गैलवे ने कहा है कि—“यह प्रदर्शित करने का प्रयास करता है कि ईश्वर के अस्तित्व में नैतिक जीवन की समस्याओं का अति उत्तम समाधान मिलता है।”

13.3 नीति मूलक प्रमाण के संस्थापक काण्ट का मत

पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर की सत्ता के लिए इस युक्ति को प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय काण्ट को दिया जा सकता है। काण्ट ने यह सिद्ध किया कि ईश्वर सम्बन्धी विचार बाह्य विश्व की व्याख्या से नहीं प्राप्त होता है। ईश्वर सम्बन्धी विचार का स्रोत मानव का नैतिक एवं आन्तरिक जीवन है। काण्ट के अनुसार नैतिक आत्मा सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती है। सर्वोच्च शुभ में धर्म एवं सुख नामक दो तत्व हैं। कर्तव्य पूर्ति की चेतना (Consciousness of duty fulfilled) को धर्म एवं तृप्त इच्छा की चेतना (Consciousness of desire fulfilled) को सुख कहा जाता है। लेकिन धर्म एवं सुख का सम्बन्ध काण्ट के अनुसार दो अलग-अलग विश्व से है। धर्म बौद्धिक विश्व (Intellectual world) एवं सुख दृश्य जगत से सम्बन्धित है। सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिए इन दोनों विपरीत तत्वों का मिलन आवश्यक है। परन्तु सवाल यह है कि यह कैसे संभव है? काण्ट इस समस्या का समाधान दोनों जगत का आधार ईश्वर को मानकर करता है। काण्ट का मानना है कि ईश्वर ही वह सत्ता है जो धर्म एवं सुख को मिला कर सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति में सहायता प्रदान करता है। इस प्रकार काण्ट के मत सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति के लिए ईश्वर का अस्तित्व मानना आवश्यक हो जाता है।

काण्ट ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता के लिए एक दूसरे आधार पर भी आवश्यक मानता है। उसका कहना है कि नैतिकता की यह मूल मान्यता है कि शुभ एवं नैतिक कार्य करने वाला व्यक्ति सुखी तथा अशुभ एवं अनैतिक कार्य करने वाला व्यक्ति दुःखी होगा। ऐसी स्थिति में एक ऐसी चेतन सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्य है जो मनुष्य के शुभाचरण के अनुपात में आनन्द की व्यवस्था करे।

13.4 भारतीय दर्शन में नीतिमूलक प्रमाण की संकल्पना

भारतीय दर्शन में महर्षि गौतम, वात्स्यायन जैसे नैयायिक एवं शंकर जैसे अद्वैत वेदान्ती का भी यह मानना है कि ईश्वर की कर्माध्यक्ष के रूप में सत्ता स्वीकार करना आवश्यक है। यदि एक असीम शक्ति एवं ज्ञान से परिपूर्ण न्याय शील ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न किया जाय; तो कर्म-फल जैसे सार्वभौम नियत

की व्याख्या नहीं संभव होगी। इसलिए हमें ईश्वर के रूप में एक न्यायाधीश की सत्ता को स्वीकार करना होगा, जो संसार के सभी मनुष्यों को उनके शुभ-अशुभकर्मों के अनुपात में सुख-दुःख प्रदान करता है।

13.5 जेम्समार्टिनों का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

काण्ट की भाँति मार्टिनों ने भी नैतिक प्रमाण के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। मार्टिनों का यह मानना है कि नैतिक आदर्श की सत्यता के लिए ईश्वर की सत्ता को मानना आवश्यक है। नैतिक आदर्श का अर्थ है आत्मा की पूर्णता। प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर नैतिकता की प्राप्ति के लिए विवशता का अनुभव करता है; जिससे यह सिद्ध होता है कि नैतिक आदर्श भ्रम मात्र या असत्य नहीं है। यदि नैतिक आदर्श को असत्य कहा जाय; तब नैतिकता निरर्थक हो जाएगी। चूँकि नैतिक आदर्श सत्य हैं; इसलिए ईश्वर ही नैतिक आदर्श का प्रतीक है। इस प्रकार नैतिक आदर्श के प्रतीक के रूप में ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

13.6 काण्ट का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

परन्तु काण्ट, भारतीय दार्शनिकों एवं मार्टिनो का नीतिमूलक प्रमाण ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में असफल रहता है। जहाँ तक काण्ट के तर्क का सवाल है तो वे पारमार्थिक एवं व्यावहारिक जगत तथा धर्म एवं सुख नामक दो विपरीत तत्वों को स्वीकार कर ईश्वर द्वारा इसमें एकता स्थापित करने का प्रयास किये हैं। परन्तु यह संभव नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि ईश्वर में सुख का भाव नहीं हो सकता। सुखरतो वासनाओं की तृप्ति से ही संभव होता है और ईश्वर में वासनाएँ नहीं हो सकतीं। अतएव सुख से दूर रहने वाला ईश्वर धर्म एवं सुख में कैसे एकता स्थापित कर सकता है? काण्ट का यह समन्वय कृत्रिम मालूम पड़ता है। यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि ईश्वर धर्म एवं सुख में समन्वय स्थापित करता है; तो ससीम हो जाता है; क्योंकि वह किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह कार्य करता है। परन्तु ससीम ईश्वर को धर्म का ईश्वर नहीं कहा जा सकता।

13.7 काण्ट के नीतिमूलक प्रमाण का जेम्समार्टिनों द्वारा समर्थन

काण्ट का नैतिक तर्क इस सिद्धान्त पर आधारित है कि “नैतिक व्यक्ति सुखी होगा” तथा मार्टिनों का नैतिक तर्क इस मान्यता पर आधारित है कि “आत्मा की पूर्णता नैतिक आदर्श है।” काण्ट एवं मार्टिनों दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि ये कोई स्वयं सिद्ध सिद्धान्त है, परन्तु दार्शनिकों की दृष्टि में इन्हें स्वयं सिद्ध सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता है। जब तक आधार ही सिद्ध नहीं होगा; तब तक निष्कर्ष को कोई महत्व नहीं हो सकता।

हालाँकि काण्ट स्वयं अपने नीतिमूलक प्रमाण की वस्तुनिष्ठता का निषेध करते हुए कहते हैं कि यह नीति परक प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व के लिए कोई वस्तुनिष्ठ रूप से प्रामाणिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता। यह संदेहवादी के लिए इस बात को प्रमाणित नहीं करता कि ईश्वर है; किन्तु यह इस बातको प्रमाणित करता है कि यदि वह नैतिकता के दृष्टिकोण से विचार करना चाहता है; तो उसे अपने व्यावहारिक तर्क बुद्धि के नियमों के अनुरूप इस कथन से सम्बन्धित मान्यता को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि ईश्वर का अस्तित्व है। इस प्रकार यह एक व्यक्तिनिष्ठ तर्क है; जो नैतिकता को स्वीकार करने वाले मनुष्यों के लिए प्रभावशील है।

13.8 पाश्चात्य दर्शन के विभिन्न अन्य दार्शनिकों द्वारा नीतिमूलक प्रमाण का समर्थन

पाश्चात्य दर्शन के डेविड ऐल्टन, ट्रब्लड, हेस्टिंग्स रैशडल, जे0एच0 कर्डिनल, न्यूमैन, डी0एम0 बेली, जान बेली, एच0डी0लेविस, टेलर, सोर्ले, एच0एच0जे0 पेटन जैसे आधुनिक एवं समकालीन दार्शनिकों ने भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए नीति परक प्रमाण को प्रस्तुत किया है। हेस्टिंग्स रैशडल का मानना है कि नैतिकता की व्याख्या पूर्ण बुद्धि के आधार पर ही संभव है। यही पूर्ण बुद्धि नैतिक आदर्शों का स्रोत एवं आश्रय है। यही मान्यता धर्म में ईश्वर के विश्वास के रूप में विकसित होती है।

13.9 हेस्टिंग्स रैशडल का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

हेस्टिंग्स रैशडल स्पष्टतया यह कहते हैं कि “यद्यपि ईश्वर में विश्वास सभी प्रकार के नैतिकता का आधार नहीं है; किन्तु यह वस्तुनिष्ठ तथा निरपेक्ष नैतिकता की पूर्व मान्यता अवश्य है। एक नैतिक आदर्श बुद्धि के अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं हो सकता। निरपेक्ष नैतिक आदर्श की सत्ता केवल ऐसी बुद्धि में संभव है जिससे सम्पूर्ण वास्तविकता का उद्गम होता है। इस विश्वास को नैतिकता की उपमान्यता कहा जा सकता है।

13.10 डेविड ऐल्टनट्रूब्लड का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

ईश्वर अस्तित्व के सम्बन्ध में नीति परक तर्क प्रस्तुत करते हुए डेविड ऐल्टनट्रूब्लड कहते हैं कि— “वस्तुपरक नैतिक व्यवस्था के अभाव में नैतिक अनुभव निरर्थक हैं। ईश्वर के अस्तित्व के बिना वस्तुपरक नैतिकता का कोई महत्व नहीं है। अतएव वस्तुपरक नैतिक नियम की स्वीकृति हमें ईश्वर में विश्वास करने के लिए प्रेरित करती है; जिसके बिना इस नियम का कोई महत्व नहीं रह जाएगा। यदि हम इस नियम में विश्वास करते हैं तो हमें अनिवार्यतः उन स्थितियों में भी विश्वास करना होगा; जो इस नियम को संभव बनाती है।”

13.11 डी० एम० बेली का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

डी० एम० बेली ने ट्रूब्लड के मत का समर्थन करते हुए कहा है कि— “जब हम अपनी नैतिक चेतना को गम्भीरता पूर्वक स्वीकार करते हैं; तो वह हमें धार्मिक सत्य के सम्पूर्ण क्षेत्र में उलझा देती है।”

परन्तु मानव का सामाजिक जीवन ही नैतिकता का मूल स्रोत है। ऐसी स्थिति में नैतिक मूल्यों तथा नैतिक नियमों की व्याख्या के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त नैतिक नियमों एवं मूल्यों की निरपेक्षता एवं वस्तुनिष्ठता को लेकर भी दार्शनिकों में परस्पर मतभेद है। कुछ दार्शनिक इसे व्यक्तिनिष्ठ एवं सापेक्ष मानते हैं।

13.12 प्रो० टेलर का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

प्रो० टेलर का कहना है कि “बाह्य प्रकृति में हम ईश्वर को अधिक से अधिक ऐसे परिवर्तनीय रूप में देखते हैं जो उसके वास्तविक स्वरूप का आवृत्त ज्ञान प्रदान करता है। इसकी अपेक्षा अपने नैतिक जीवन में हम ईश्वर का अनावृत्त अथवा वास्तविक ज्ञान प्राप्त करते हैं।”

13.13 नीतिमूलक प्रमाण का समर्थन करने वाले विभिन्न दार्शनिकों के दृष्टिकोण का निहितार्थ

नीतिपरक प्रमाण का समर्थन करने वाले कुछ दार्शनिकों का यह भी मानना है कि— “हमारे नैतिक मूल्य तथा नियम निरपेक्ष तथा वस्तुनिष्ठ हैं और हमारी अन्तःश्वेतना का स्रोत अनिवार्यतः कोई दैवी अलौकिक शक्ति है। पुनश्च अपनी इसी मान्यता के आधार पर वे यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि नैतिक मूल्यों तथा नियमों की निरपेक्षता एवं वस्तुनिष्ठता और अन्तःश्वेतना के गहन प्रभाव की संतोषप्रद एवं युक्ति संगत व्याख्या करने के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना अनिवार्यतः है। इन दार्शनिकों का यह भी दावा है कि इस नीति परक प्रमाण के द्वारा हम ईश्वर की सत्ता को सिद्ध कर सकते हैं।

13.14 नीतिमूलक प्रमाण की समीक्षा

परन्तु अन्तःश्वेतना की व्याख्या मनुष्य के सामाजिक जीवन के आधार पर ही की जा सकती है इसके लिए ईश्वर या अन्य किसी दैवी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। वास्तविकता यह है कि अन्तःश्वेतना उस समाज की प्रतिध्वनि है जिसमें हमने जन्म लिया तथा जिसमें हमारा पालन-पोषण हुआ। यही कारण है कि परस्पर विरोधी सामाजिक तथा धार्मिक परम्पराओं में परस्पर विरोधी सामाजिक तथा धार्मिक परम्पराओं में जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों की अन्तःश्वेतना पर स्पर विरोधी आदेश देती है। जहाँ एक व्यक्ति की अन्तःश्वेतना गाय को पवित्र मानकर उसकी पूजा का आदेश देती है, वहीं दूसरे व्यक्ति की अन्तःश्वेतना उसका मांस भक्षण का आदेश देती है। क्या एक ही ईश्वर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को परस्पर विरोधी आदेश देता है? इस प्रकार मनुष्य की अन्तःश्वेतना या अन्तरात्मा के आधारपर तर्कसंगत रूप से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

13.15 जे0 एच0 कार्डिनल एवं न्यूमैन का नीतिमूलक प्रमाण के पक्ष में तर्क

जे0एच0 कार्डिनल एवं न्यूमैन नैतिकता के लिए ईश्वर के अस्तित्व के अनिवार्यता से सम्बन्धित ईश्वरवादियों के दावे का समर्थन करते हुए कहते हैं कि— “यदि हम अन्तश्चेतना के प्रति दायित्व का अनुभव करते हैं, उसके आदेश का उल्लंघन करने के कारण लज्जित तथा भयभीत होते हैं तो इसका अर्थ यही है कि ईश्वर है जिसके समक्ष हम लज्जित होते हैं और जिसके दण्ड से भयभीत होते हैं”। यदि इन संवेगों के कारण इस दृश्य संसार में विद्यमान नहीं है; तो जिस सत्ता के प्रति कर्तव्यनिष्ठा व्यक्ति का ज्ञान उन्मुख होता है, वह अवश्य ही अलौकिक या दैवी या ईश्वर है।” परन्तु नैतिकता का आधार ईश्वर या अन्य कोई दैवी शक्ति न होकर मनुष्य का सामाजिक जीवन ही है। नैतिक संकल्पना की व्याख्या के लिए ईश्वर की प्राक्कल्पना अनावश्यक तथा निरर्थक है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि नैतिकता को एक आदर्श तथा साथ ही साथ वस्तुनिष्ठ मान लिया जाय, तो आदर्श एवं यथार्थ का अन्तर समाप्त हो जाएगा और यदि नैतिक—नियम ईश्वर के बिना संभव न माना जाय; तो ऐसी स्थिति में हमें यह स्वीकार करना होगा कि सब कुछ निरपेक्ष परम सत्ता से ही घटित होता है। जब सब कुछ ईश्वर से ही घटित होगा, तो हमें नियतिवाद को स्वीकार करना होगा। यदि हम नियतिवाद को स्वीकार करले ते हैं तो मनुष्य में संकल्प की स्वतंत्रता भी नहीं होगी। मनुष्य के संकल्प स्वतंत्रता के अभाव में नैतिकता का भी कोई अर्थ नहीं होगा। यही कारण है कि निकोलाई हार्टमैन जैसे कुछ विचारकों का यह मानना है कि—“नैतिकता के लिए ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। नैतिक नियम स्वयं श्रद्धा का विषय है। अतः नैतिकता ईश्वर पर आधारित नहीं है।”

13.16 निष्कर्ष

निष्कर्ष: यह कहा जा सकता है कि नैतिक संकल्पना के उत्पत्ति तथा सार्थकता के लिए ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना युक्ति संगत नहीं है। वास्तविकता यह है कि नीतिपरक प्रमाण में ईश्वर को साध्य न मानकर साधन माना जाता है, जो धार्मिक भावना के प्रतिकूल है। व्यक्ति नैतिकता को सामान्यतः इसलिए स्वीकार करता है; क्यों कि वह ईश्वर पर आश्रित है। ईश्वर में विश्वास नैतिकता पर आधारित नहीं होता; बल्कि नैतिकता में आस्था ईश्वर विश्वास पर आधारित है। इस प्रकार यह कह सकता है कि नैतिक मान्यता पर आधारित ईश्वर धर्म में स्वीकृत ईश्वर नहीं हो सकता। यह केवल दार्शनिकों का ईश्वर हो सकता है।

13.17 सारांश

ईश्वर की सत्ता के सन्दर्भ में नीतिमूलक प्रमाण को सर्वप्रथम प्रस्तुत करने का श्रेय जर्मन दार्शनिक इमान्युल काण्ट को है। इमान्युल काण्ट का यह कहना है कि मानव जीवन का परम आदर्श निःश्रेयस् की प्राप्ति है। यह निःश्रेयस् की प्राप्ति है। यह निःश्रेयस् परम आनन्द है। परम आनन्द शुभ संकल्प एवं सुख का समन्वय है। निरपेक्ष शुभ में शुभ संकल्प एवं आनन्द दोनों ही तत्व समाहित है। ईश्वर ही वह सत्ता है; जो परम निःश्रेयस् है। इस प्रकार काण्ट यह दिखाते हैं कि शुभ से आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार अनुभूति ही ईश्वर की अनुभूति है। काण्ट के पश्चात् अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों जैसे, न्यूमैन, जेम्स मार्टिन, सोर्लेशेडेल, डी0 एम0 बेली, जॉनबेली, इत्यादि ने नीतिमूलक प्रमाण को ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रस्तुत किया। कुछदार्शनिकों ने नीतिमूलक प्रमाण के औचित्य को तकनीकी आधार पर अस्वीकार किया है। अतएव यह कहा जा सकता है कि नीतिमूलक प्रमाण संज्ञानात्मक दृष्टि से स्वीकार्य न होने के कारण ईश्वर की सत्ता की सिद्धि करने में असफल रहता है।

13.18 प्रश्न बोध

1. ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए दिये गये नीतिमूलक प्रमाण की व्याख्या कीजिए।
2. क्या काण्ट का नीतिमूलक प्रमाण ईश्वर की सत्ता सिद्ध कर पाता है? व्याख्या कीजिए।

13.19 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्मदर्शन— डॉ० याकुब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूल समस्याएं— डॉ० वेद प्रकाश वर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन— डॉ० शिव भानु सिंह

इकाई-14 धार्मिक अनुभूति सम्बन्धी युक्ति

इकाई की रूपरेखा

- 14.0 उद्देश्य
- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 ईश्वर के अस्तित्व के लिए धार्मिक अनुभूति का प्रमाण
- 14.3 अनेक सभ्यताओं तथा अनेक युगों का प्रतिनिधित्व करने वाले धर्मपरायण व्यक्तियों का अनुभव
- 14.4 ईश्वर की धार्मिक अनुभूति होती है; किन्तु यह अवर्णनीय है।
- 14.5 ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में धार्मिक अनुभव के समानता पर आधारित तर्क
- 14.6 ईश्वर के सम्बन्ध में निरीश्वर वादी विचार धारा
- 14.7 व्यक्तिगत धार्मिक अनुभवों के आधार पर ईश्वर के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचार
- 14.8 धर्मपरायण व्यक्ति द्वारा ईश्वर को अलौकिक तथा अनुभवातीत सत्ता के रूप में मानना
- 14.9 निष्कर्ष
- 14.10 सारांश
- 14.11 प्रश्न बोध
- 14.12 उपयोगी पुस्तकें

14.0 उद्देश्य

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए प्रस्तुत प्रत्ययमूलक प्रमाण, विश्वमूलक प्रमाण, उद्देश्यमूलक प्रमाण, तथा नीतिमूलक प्रमाण ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने में असफल रहें हैं; क्योंकि ये सभी प्रमाण ईश्वर के सम्बन्ध में कोई वैज्ञानिक संज्ञान देने में असमर्थ रहे हैं। इसलिए यह प्रश्न फिर उभर कर आता है कि क्या ईश्वर की सत्ता को तर्क के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है? यदि ईश्वर तर्क का विषय नहीं है तो इसे किस माध्यम से जाना जा सकता है? अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर के सम्बन्ध में उठने वाले ऐसे प्रश्नों का समाधान धार्मिक अनुभूति में पाने का प्रयास किया है। प्रायः ईश्वर के सम्बन्ध में उठने वाले ऐसे प्रश्नों का समाधान धार्मिक अनुभूति में पाने का प्रयास किया है। प्रायः ईश्वर के सम्बन्ध में यह पूछा जाता है कि विश्व में प्रचलित सभी ईश्वर वादी धर्मों का उद्देश्य यदि ईश्वर की सत्ता की अनुभूति करना है; तो ऐसी स्थिति में हमें ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के स्थान पर इसे धार्मिक अनुभूति का बनाना चाहिए। यदि ईश्वर हमारे धार्मिक अनुभूति का विषय बन जाए; तो इसे किसी बाह्य जगत में खोजने की न तो आवश्यकता रह जाएगी।

14.1 प्रस्तावना

ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए बुद्धि को संतुष्टि प्रदान करने वाले तर्क संभव नहीं होने पर बुद्धि को किसी ऐसे आधार का अनुभव करने लगे; जिससे यह सिद्ध हो सके कि यदि ईश्वर तर्क बुद्धि का विषय नहीं है तो इसकी सत्ता की सिद्धि कैसे संभव है? इस प्रश्न का ही समाधान पाने के लिए बुद्धि धार्मिक अनुभूति के शरण में चली जाती है। प्रायः सभी ईश्वर वादी धर्मों में ईश्वर को अनुनय-विनय का विषय माना जाता है; वैज्ञानिक प्रमाण का नहीं। अनुनयात्मक प्रमाण ईश्वर में दृढ़ विश्वास का ही एक प्रतिरूप है। जहाँ तक अनीश्वरवादी के लिए अनुनयात्मक युक्तियों के रूप में ईश्वर से सम्बन्धित जितने भी प्रमाण हैं; वह सभी निरर्थक हैं। भक्त ईश्वर की अनुभूति से सरोबोरहो कर ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए युक्तियों का प्रयोग इस आशा से करता है कि अन्य धर्म-परायण व्यक्ति भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने लगें। इस सन्दर्भ में धार्मिक अनुभूति से सम्बन्धित प्रमाण प्रस्तुत करने वाले दार्शनिक व्यक्तियों और धार्मिक महापुरुषों की

आध्यात्मिक अनुभूतियों को ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का एक मात्र समर्थ प्रमाण माना है।

14.2 ईश्वर के अस्तित्व के लिए धार्मिक अनुभूति का प्रमाण

अधिकांश दार्शनिकों का यह मानना है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए बुद्धि को संतुष्ट करने वाले प्रमाण अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं और आगे भी प्राप्त नहीं हो सकते। उनका मानना है कि वास्तव में ईश्वर की सत्ता को तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह मूलतः धार्मिक अनुभूति का विषय है। ईश्वर के अस्तित्व के विषय में धर्म-दार्शनिक अपना तर्क इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं— “मैंने ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया है; अतः मेरे पास इस विश्वास का पर्याप्त कारण है कि वास्तव में उसका अस्तित्व है।”

सी0डी0 ब्राड के अनुसार धार्मिक अनुभूति की व्यापकता से सिद्ध होता है कि इसमें व्यक्ति का वास्तविकता से ऐसा सम्बन्ध स्थापित होता है जो अन्य साधनों से नहीं हो सकता।

14.3 अनेक सभ्यताओं तथा अनेक युगों का प्रतिनिधित्व करने वाले धर्मपरायण व्यक्तियों का अनुभव

डेविड ऐल्टन ट्रब्लड, एच0एच0 फार्मर आदि दार्शनिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के लिए धार्मिक अनुभव के तर्क को पूर्णतः सत्य एवं प्रामाणित मानते हैं। ट्रब्लड कहते हैं कि— ‘लाखों व्यक्तियों ने यह बतलाया है और अब भी बता रहे हैं कि उन्होंने ईश्वर को उसी प्रत्यक्ष एवं गहराई से जाना है जैसे वे अन्य व्यक्तियों एवं भौतिक वस्तुओं को जानते हैं। यह तथ्य कि अनेक सभ्यताओं तथा अनेक युगों का प्रतिनिधित्व करने वाले बहुत से व्यक्तियों ने जिनमें बहुत बड़ी संख्या ऐसे मनुष्यों की हैं; जिन्हें सामान्यतः श्रेष्ठतम् एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति माना जाता रहा है—प्रत्यक्ष धार्मिक अनुभव का उदाहरण दिया है, हमारे संसार के विषय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्यों में से एक है। ——— ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि हमारे समक्ष दो ही विकल्प रह जाते हैं। या तो ईश्वर है अथवा वे सभी जिन्होंने उसे जानने का दावा किया है; भ्रम में रहे हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि ईश्वरवादियों द्वारा प्रस्तुत किया गया धार्मिक अनुभव सम्बन्धी तर्क वस्तुतः ईश्वर को सिद्ध करने में समर्थ है कि नहीं। यहाँ सम्भवतः यह प्रश्न उठता है कि ‘धार्मिक-अनुभव’ से उनका क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में धर्म-दार्शनिक प्रायः यही कहते हैं कि धार्मिक अनुभव ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव है; जिससे ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है।

परन्तु धार्मिक अनुभव के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने वाले दार्शनिक बिना किसी प्रमाण के पहले से ही यह मान लेते हैं कि ईश्वर है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव धर्मपरायण व्यक्तियों को प्राप्त होता है। यही कारण है कि हमारे पास उनके हर दावे को स्वीकार करने का कोई विश्वसनीय एवं तर्क संगत आधार नहीं है कि धर्मपरायण व्यक्तियों को जो अनुभव प्राप्त होता है, वह वस्तुतः ईश्वर का अनुभव है। यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि इन व्यक्तियों को एक विशेष प्रकार का अनुभव प्राप्त होता है जो निरीश्वरवादियों को नहीं प्राप्त होता। परन्तु यह तथ्य केवल इतना ही सिद्ध करता है कि धार्मिक अनुभव एक विशेष प्रकार की मनोदशा है जिसका धर्मपरायण व्यक्ति अनुभव करते हैं। उनकी इस मनोदशा से बिल्कुल यह प्रमाणित नहीं होता कि उनके अपने मन से पृथक् और स्वतंत्र किसी बाह्य वस्तु का अस्तित्व है।

14.4 ईश्वर की धार्मिक अनुभूति होती है; किन्तु यह अवर्णनीय है।

कुछ धर्म दार्शनिकों का मानना है कि जो ईश्वर विषयक धार्मिक अनुभव प्राप्त होता है; उसका वर्णन करना संभव नहीं है। उनके अनुसार यह अनुभव पूर्णतः आत्मनिष्ठा है और वह किसी बाह्य-वस्तु के ऐसे वस्तु परक ज्ञान का आधार नहीं हो सकता जो सामान्य परिस्थितियों में सभी मनुष्यों को उपलब्ध हो सके। ऐसी स्थिति में धर्मपरायण व्यक्ति संदग्धि रूप से कैसे यह दावा कर सकते हैं कि उन्हें जो अवर्णनीय अनुभव प्राप्त होता है वह वास्तव में ‘ईश्वर का अनुभव’ है? यदि उनका धार्मिक अनुभव सचमुच अवर्णनीय है तो उसके आधार पर तर्कसंगत रूपा से यह दावा कैसे किया जा सकता है कि वह किसी विशेष वस्तु का अनुभव है? जब वे अपने इस धार्मिक अनुभव के आधार पर यह दावा करते हैं कि वह ईश्वर का अनुभव है तो उनके विचारों में अनिवार्यतः असंगति उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि एक ओर वे यह दावा करते हैं कि यह अनुभव ऐसी वस्तुपरक सत्ता का अनुभव है; जिसे ईश्वर कहा जाता है और जिसका विशेष स्वरूप है। ये दोनों

बातें परस्पर विरोधी हैं; जिन्हें तर्क संगत रूपा से स्वीकार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि पाश्चात्य दार्शनिक एफ०आर०टैनेन्ट ने अपनी कृति 'फिलॉसफिकलथियोलॉजी' में इस तर्क को ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने में असमर्थ माना है। टैनेन्ट के मत में— "धार्मिक अनुभूति इतनी अधिक आत्मनिष्ठ एवं व्यक्तिगत होती है कि उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती।"

14.5 ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में धार्मिक अनुभव के समानता पर आधारित तर्क

कुछ धर्म दार्शनिक ईश्वर की सत्ता का प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए यह तर्क देते हैं कि धर्मपरायण व्यक्तियोंको धार्मिक अनुभव समान रूपा से ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव है जिसके आधार पर एक सर्वमान्य ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित किया जा सकता है।

परन्तु प्राचीनकाल से वर्तमान युग तक विभिन्न धर्मों का इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि देश—काल, संस्कृति एवं धर्म की भिन्नता के कारण धर्मपरायण व्यक्तियों के ईश्वर—विषयक धार्मिक अनुभव एक दूसरे से भिन्न नहीं; प्रत्युत् एक दूसरे के विरोधी भी हैं। उदाहरणार्थ ईसाई यों का धार्मिक अनुभव यह बताता है कि ईश्वर दयालु तथा प्रेम मय है; जबकि यहूदियों का धार्मिक अनुभव यह कहता है कि ईश्वर क्रोधी और प्रतिशोध लेने वाला है। इतना ही नहीं एक ही धर्म को मानने वाले व्यक्तियों के धार्मिक अनुभव भी परस्पर विरोधी दिखलाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ वैष्णव—दर्शन के विशिष्टाद्वैत को स्वीकार करने वाले हिन्दू ईश्वर को सगुण साकार तथा व्यक्तित्व सम्पन्न मानते हैं, इसके विपरीत शंकराचार्य का समर्थन करने वाले हिन्दू के वलनिर्गुण एवं निर्विका रत्रत में ही विश्वास करते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए तर्क संगत रूप से यह कहना असंभव हो जाता है कि इन विरोधी मतों में से कौन सासत्य मत है और कौन सामिथ्या।

14.6 ईश्वर के सम्बन्ध में निरीश्वरवादी विचारधारा

इसके अतिरिक्त कुछ धर्मपरायण व्यक्तियों के धार्मिक अनुभव में ईश्वर के लिए कोई स्थान ही नहीं है। गौतम बुद्ध, महावीर, कन्ययूशियस आदि अनेक महान विचारकों ने भी अपने धार्मिक अनुभव ईश्वर वादियों के धार्मिक अनुभव के ठीक विपरीत हैं और ये दोनों ही अपने—अपने धार्मिक अनुभव को पूर्णतः सत्य तथा प्रामाणिक मानते हैं। वास्तव में पूर्णतः आत्मनिष्ठ होने के कारण मनुष्यों का यह धार्मिक अनुभव न तो ईश्वर के अस्तित्व की पुष्टि करता है और न ही उसका खण्डन; अतः इस दृष्टि से ईश्वर की सत्ता के लिए धार्मिक अनुभव सम्बन्धी प्रमाण का कोई महत्व नहीं।

14.7 व्यक्तिगत धार्मिक अनुभवों के आधार पर ईश्वर के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी विचार

कुछ धर्म दार्शनिकों का यह भी विश्वास है कि उन्हें ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ है परन्तु वे ईश्वर के स्वरूप के विषय में अपने व्यक्तिगत धार्मिक अनुभवों के आधार पर अलग—अलग ही नहीं अपितु परस्पर विरोधी बातें कहते हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि उनके ये तथा कथित ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष अनुभव भ्रामक हो सकते हैं। इस प्रकार यदि ईश्वर वादी दार्शनिकों के इस दावे को स्वीकार भी कर लिया जाए कि कुछ धर्मदार्शनिकों को ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ है तो भी उनके इस आत्मनिष्ठ अनुभव कोई श्वर के अस्तित्व के लिए विश्वसनीय एवं वस्तु परक प्रमाण नहीं माना जा सकता।

अनेक विचारकों का यह मानना है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिए धार्मिक—अनुभव सम्बन्धी तर्क प्रस्तुत करने वाले ईश्वरवादी दार्शनिकों से यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वर के प्रत्यक्ष से उनका क्या तात्पर्य है? इस प्रश्न के प्रत्ययुत्तर में ट्रब्लड यह कहते हैं कि— "धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर को उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं जिस प्रकार हम अन्य व्यक्तियों तथा भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करते हैं।"

14.8 धर्मपरायण व्यक्ति द्वारा ईश्वर को अलौकिक तथा अनुभवातीत सत्ता के रूप में मानना

परन्तु ट्रब्लड का यह उत्तर युक्ति संगत नहीं है; क्योंकि ईश्वरवादी ईश्वर को ऐसी अलौकिक तथा अनुभवातीत सत्ता मानते हैं जो मनुष्य के ज्ञान धर्मपरायण व्यक्ति तथा ईश्वरवादी दार्शनिक प्रायः यह कहते हैं कि ईश्वर कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं है, अतः उसे भौतिक वस्तुओं की भाँति मानवीय अनुभव और तर्क बुद्धि

द्वारा नहीं जाना जा सकता। ऐसी स्थिति में यह समझना कठिन है कि 'ईश्वर के प्रत्यक्ष अनुभव का क्या अर्थ हो सकता है? जैसा कि ईश्वर वादी मानते हैं तो मनुष्य के लिए किसी भी अर्थ में उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना नितान्त असम्भव है। परन्तु ईश्वर वादी दार्शनिक एक ओर ईश्वर को अलौकिक एवं अनुभवातीत सत्ता मानते हैं और दूसरी ओर वे यह भी दावा करते हैं कि बहुत से धर्म परायण व्यक्तियों को उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होता है। इन दोनों पर स्पर विरोधी बातों को एक साथ स्वीकार करने के फलस्वरूप इन दार्शनिकों के विचारों में गम्भीर व्याघात व उत्पन्न हो जाता है जो उनके धार्मिक अनुभव सम्बन्धी प्रमाण को अत्यधिक दुर्बल एवं अविश्वसनीय बना देता है। वस्तुतः ईश्वर को अलौकिक एवं अनुभवातीत मानते हुए किसी व्यक्ति को उसके प्रत्यक्ष अनुभव की प्राप्ति की बात करना पूर्णतः निरर्थक है। यदि मनुष्य के लिए किसी भी अर्थ में ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना संभव नहीं है तो इस अनुभव की सत्यता एवं प्रभावशीलता के समर्थन में ट्रब्लड द्वारा दिए गए इन तर्कों का कोई महत्व नहीं रह जाता कि विभिन्न सभ्यताओं, युगों तथा देशों में बहुत से धर्मपरायण व्यक्तियों ने यह अनुभव प्राप्त किया है।

14.9 निष्कर्ष

सारतः यह कहा जा सकता है कि धार्मिक अनुभव सम्बन्धी प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में असफल रह जाता है; क्योंकि इन्द्रियों के बिना ईश्वर विचार संभव नहीं रूढ़िवादिता है। इन सबके बावजूद यह कहा जा सकता है कि ईश्वर के सत्ता से सम्बन्धित प्रमाण केवल धार्मिक अनुभूति के रूप में संभव है। प्रतीकों को ही विभिन्न धर्मों में ईश्वर की विभिन्न प्रतिमाओं के रूप में जाना जाता है और इन्हीं प्रतीकों के सम्पूर्णता की प्राप्ति को धार्मिक अनुभूति कहा जाता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि प्रतीकों के दर्शन से उत्पन्न अनुभूति को धार्मिक अनुभूति कहा जा सकता है। इस प्रकार यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि धर्म परायण व्यक्ति केवल अपने मनस के द्वारा ही ईश्वर की अनुभूति कर सकता है और हमारे लिए यह निश्चित रूप से यह कह पाना कठिन है कि ईश्वर से धार्मिक अनुभूति उत्पन्न होती है या धार्मिक अनुभूति से ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है ऐसा इसलिए है क्योंकि धार्मिक अनुभूति आत्मप्रमाणित होती है।

14.10 सारांश

ईश्वर के अस्तित्व से सम्बन्धित विभिन्न प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की सत्ता की युक्तियों के आधार पर सिद्धि संभव न रह जाने पर अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर को धार्मिक अनुभूति का विषय मानलिया और यह दिखाया कि प्रायः योगियों, सन्तों एवं महापुरुषों को ईश्वर की अपरोक्षानुभूति होती है। इस प्रकार के धार्मिक अनुभूति का समर्थन करने वाले दार्शनिकों का यह कहना है कि योगी समाधि में संभाषण करता है। उसका संस्पर्शन करता है और अव्यवहित रूप से उसकी अमृतोपम वाणी का श्रवण करता है। उसकी ईश्वरानुभूति प्रत्यक्षजन्य न होकर अपरोक्षजन्य है। प्रत्यक्ष अनुभूति इन्द्रियपरक होती है; जबकि अपरोक्ष अनुभूति अतीन्द्रिय निर्विकल्पक स्वानुभूति है। इसलिए सभी रहस्यवादियों को ईश्वर की अनुभूति साक्षात् रूप से हुई थी, जिसकी वाणी में निर्वचन करने में वे असमर्थ रहें हैं। अह। ब्रह्मस्मि, ब्रह्मैवब्रह्मवेद भवति, तत्त्वमसि, आत्म मैववेद सर्व, सर्व खल्विदं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म इत्यादि वैदिक वाणी ईश्वर के अनुभूति के सम्बन्ध में वैदिक प्रमाण हैं। स्पिनोजा अपने को ईश्वर प्रेमोन्नत (Amor Dei) कहते थे। वे ईश्वरानुभूति को अन्तर्दृष्टि द्वारा संभव मानते थे; जिसका स्तर प्रकृतितः अति बौद्धिक है। ईश्वरानुभूति को सत्य या असत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता; जिसके कारण इसके संज्ञानात्मक होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। योगियों, सन्तों एवं महापुरुषों के अनुभव को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि वह स्वानुभूति है। इसीलिए रुडोल्फ ऑटो ईश्वरानुभूति को अनूठी अथवा स्वर्गीय (Sin Generis) मानते हैं; जो प्रकृतितः अकथनीय है। बर्गसों का तो यहाँ तक कहना है कि सृष्टि का परम उद्देश्य है कि मानव ईश्वर के रहस्यात्मक अनुभूति की सहायता से ईश्वर के समय सर्जनहार देवत्व को प्राप्त करे। ऑटो का तो यहाँ तक कहना है कि ईश्वर की अनुभूति; जिसे वे रहस्यात्मक अनुभूति कहते हैं; पर अपना विचार व्यक्त करते हुए यह कहते हैं कि—“रहस्यात्मक अनुभूति अबौद्धिक और अयौक्तिक है।”

ईश्वर की अस्तित्व की सिद्धि से सम्बन्धित जितने भी प्रमाण हैं; वे सभी प्रतीकात्मक हैं। प्रायः जिस सत्ता को अभिव्यक्त करने में सामान्य भाषा असमर्थ होती है, वहाँ प्रतीकों के माध्यम से धर्मपरायण व्यक्तियों में असाक्षात् रीति से ईश्वर में नैतिक गुणों का आरोपण करना और उसे विश्व के कारण या प्रायोजक के रूप में सिद्ध करना उसके प्रतीकात्मक आचरण का ही प्रकटन है। प्रतीकात्मक कथन असंज्ञानात्मक होता है।

वास्तविकता यह है कि ईश्वर अनुभूति की कथनीयता; जो निश्चित विश्वास का विषय है और जिसे न तो आत्मनिष्ठ रूप से और न ही वस्तुनिष्ठ रूप से समझा जा सकता है। वह शाब्दिक न होकर मात्र प्रतीकात्मक है। ईश्वर को केवल धर्मपरायण व्यक्ति की ही भाषा में ही समझा जा सकता है। आस्था की भाषा प्रतीकों की भाषा है।

14.11 प्रश्न बोध

1. ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए धार्मिक अनुभूति प्रमाण की व्याख्या कीजिए।
2. क्या धार्मिक अनुभूति से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित होती है? विवेचना कीजिए।

14.12 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्म दर्शन – डॉ० याकुब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूल समस्याएं – डॉ० वेद प्रकाश वर्मा
धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन – डॉ० शिव भानु सिंह

खण्ड—5 परम्परागत समस्या

खंड परिचय

अमरता की संकल्पना में माना जाता है की शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी किसी न किसी रूप में आत्मा का अस्तित्व विद्यमान रहता है। मृत्यु में केवल स्थूल शरीर का विनाश होता है, आत्मा का नहीं। आत्मा का अमरता से संबंधित विचार अति प्राचीन है आत्मा की अमरता के विषय में भारतीय दर्शन के अंतर्गत व्यापक चिंतन हुआ है, जिसमें कर्म सिद्धांत एवं पुनर्जन्म के आधार पर आत्मा की अमरता का समर्थन मिलता है। कर्म सिद्धांत के अनुसार आत्मा ही वास्तविक कर्ता तथा भोक्ता है। हमें अपने द्वारा किए गए प्रत्येक कर्म का फल भोगना अनिवार्य है, इसलिए शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होती है।

प्रस्तुत खंड में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि अमरता से क्या तात्पर्य होता है ? अमरता कितने प्रकार की होती है? तथा कर्म कितने प्रकार के होते हैं?

हम कर्म के सिद्धांत एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत को समझने का प्रयास करेंगे। हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि कर्म का सिद्धांत एवं पुनर्जन्म का सिद्धांत किस प्रकार से अमरता के सिद्धांत से अंतर्संबंधित हैं। कर्मवाद या कर्म-सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त लगा हुआ है। बिना पुनर्जन्म के कर्म के सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की जा सकती। यह भी कहा जाता है कि 'कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से पुनर्जन्म नैतिक अनिवार्यता है।' यह अनिवार्यता इसलिए कि प्रत्येक कर्म का फल अवश्य मिलना है। अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है। हिंदू, इस्लाम, ईसाई, जैन, यहूदी आदि शरीर और मन से पृथक् रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं और आत्मा को अविनाशी और अनश्वर माना जाता है। कई पाश्चात्य एवं भारतीय दर्शन शरीर से पृथक् रूप में चेतन आत्मा को एक द्रव्य के रूप में स्वीकार करते हैं इसे सरल, निरवयव, माना जाता है जो की अविभाज्य, अपरिवर्तनशील, अविनाशी, अमर, अजार अपरिणामी होता है। आत्मा की अमरता से संबंधित दिए गए तर्कों से मुख्यतः चार प्रमुख आधारों का निर्माण होता है, जिससे अमरता को सिद्ध किया जाता है।

इकाई-15 अशुभ की समस्या

इकाई की रूपरेखा—

- 15.0 उद्देश्य
- 15.1 प्रस्तावना
- 15.2 शुभ के अस्तित्व के लिए अशुभ का होना आवश्यक है।
- 15.3 अशुभ शुभ का प्रशिक्षक है
- 15.4 अशुभमानव जीवन का निश्चितसत्य है।
- 15.5 मैक्टागर्ड और फरेल का मत।
- 15.6 अशुभ अपूर्ण शुभ ही है।
- 15.7 अशुभ शुभ का साधन है।
- 15.8 प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ एक दूसरे पर परस्पर निर्भर हैं।
- 15.9 अशुभ की समस्या का औचित्य।
- 15.10 महात्मा बुद्ध के अनुसार अशुभ की समस्या का औचित्य
- 15.11 प्राकृतिक और नैतिक अशुभ का मानव जीवन पर प्रभाव
- 15.12 विश्वस्तर पर अशुभ के कारण मानव जीवन पर बढ़ता संकट
- 15.13 निष्कर्ष
- 15.14 सारांश
- 15.15 प्रश्नबोध
- 15.16 उपयोगी पुस्तकें

15.0 उद्देश्य

अशुभ की समस्या के उद्भव का प्रमुख कारण ईश्वरवाद है। धर्मपरायण व्यक्ति जब अपने जीवन में ईश्वरवाद को अपनाता है; तो वह ईश्वर को परम शुभ, पूर्ण सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, न्यायशील, परमदयालु, करुणा का सागर एवं सम्पूर्ण सृष्टि की कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता मानता है। वह इस प्रकार के ईश्वर में ही आस्था रखता है और उसकी उपासना करता है। धार्मिक व्यक्ति का यह दृढ़ विश्वास है कि यदि इस प्रकार के ईश्वर को उपासना का विषय बनाया जाए; तो वह अवश्य प्रेम, दया एवं करुणा का परिचय देते हुए हमें हमारे दुःखों से मुक्ति प्रदान करेगा। मानव जीवन में अशुभ एक तथ्यात्मक अनुभूति है और इस प्रकार के तथ्यात्मक अनुभूति को हमें अपने जीवन में स्वीकार करते हुए इस प्रश्न पर विचार करना होगा कि हमारे जीवन में विद्यमान इस प्रकार के अशुभ का कोई औचित्य है? यदि ईश्वर ही सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता एवं हर्त्ता है; तो उसे एक ऐसी सृष्टि की रचना करनी चाहिए थी; जहाँ अशुभ लेश मात्र न हो और सम्पूर्ण सृष्टि सत्यं शिवं सुन्दरम् के आदर्श को चरितार्थ कर रही हो।

15.1 प्रस्तावना

धर्मपरायण व्यक्ति जब ईश्वरवादी अवधारणा को स्वीकार करता है; तो वह उपास्यता की दृष्टि से ईश्वर को व्यक्तित्व पूर्ण सगुण तथा चेतन सत्ता के रूप में अपने जीवन में ग्रहण करता है। धर्म में ईश्वरवादी अवधारणा को उपास्यता की दृष्टि से विशेष महत्व दिया गया है। ईश्वरवादी संकल्पना के अनुसार ईश्वर परम शुभ, पूर्ण, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान है। अतः सर्वोच्च शुभ के प्रतीक रूप ईश्वर से अशुभ की उत्पत्ति मानवीय

बुद्धि के परे है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विश्व में विद्यमान अशुभ का मूल कारण क्या है? क्या अशुभ को भी ईश्वर सृष्टि की रचना के समय ही उत्पन्न कर देता है और यदि ऐसा है; तो इस प्रकार के ईश्वर को परम शुभ और पूर्ण कैसे माना जा सकता है? यह स्थिति ईश्वर में विद्यमान अभाव है और न्यूनता की द्योतक है तथा ईश्वर के सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होने पर भी प्रश्नचिह्न लगाती है। धार्मिक व्यक्ति एक ऐसे ईश्वर की प्रार्थना और उपासना करना चाहता है; जो उसके करुण कन्दन को सुन सके। उसके ऊपर दया, करुणा आदि भावों को प्रकट कर उसे सभी प्रकार दुःखों से मुक्ति का आश्वासन दे सके। इस प्रकार ईश्वर का अशुभ का मूल कारण मानना उचित नहीं है, क्योंकि ईश्वर को परम शुभ माना गया है। ऐसी स्थिति में अशुभ के कारण के रूप में ईश्वरेतर सत्ता है को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यदि अशुभ के कारण के रूप में कोई ईश्वरेतर सत्ता है; तो द्वैतवाद की पुष्टि होती है और इस प्रकार दो निरपेक्ष सत्ताएँ एक दूसरे को सीमित कर देती है और इस प्रकार ईश्वर सीमित हो जाएगा। सीमित ईश्वर ईश्वरवादियों को स्वीकार्य नहीं हो सकता है। यदि ईश्वर अशुभ को दूर करने में अशक्त है, तो उसे सर्वशक्तिमान ही कहा जा सकता है। विश्व में अशुभ की सत्ता सर्वानुभूत है। यदि ईश्वर को सृष्टि रचना के ऐसे प्राणियों का ज्ञान नहीं था; जो विश्व में आने के बाद अशुभ पैदा करते हैं; उसे सर्वज्ञ नहीं का जा सकता है। यदि ईश्वर को ऐसे प्राणियों का ज्ञान था; जो ऐसी स्थिति में ऐसा लगता है कि ईश्वर ने ऐसे जीवों को विश्व में अशुभ पैदा करने के लिए क्यों भेज दिया है? ऐसी स्थिति में इस प्रकार के ईश्वर को दया करुणा एवं प्रेम का पारावार कैसे कहा जा सकता है? एपीक्यूरस इस अशुभ की समस्या को बड़े ही सुन्दर ढंग से उभयतः पाश द्वारा प्रस्तुत किया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि “यदि ईश्वर अशुभ को दूर करना चाहता है; फिर भी अभीतक अशुभ को दूर नहीं कर पाया है; तो क्या वह अशुभ को दूर करने में असमर्थ नहीं सिद्ध होगा? यदि समर्थ होने पर भी वह उसे दूर नहीं करना चाहता है; तो ऐसा ईश्वर क्या अशुभ नहीं सिद्ध होगा? यदि ऐसी बातें नहीं हैं; तो क्या वह समर्थ भी है और चाहता भी है कि अशुभ न रहें; तब फिर अशुभ क्यों है? इनमें से ईश्वर के सन्दर्भ किसी भी पक्ष को स्वीकार करने पर ईश्वर के ईश्वरत्व को ही हानि पहुँचती है। अतः यदि हम ईश्वरवाद की इस गुण को स्वीकार करते हैं कि ईश्वर परम शुभ है; तो इस आधार पर विश्व में विद्यमान अशुभ की व्याख्या संभव नहीं लगती है।

विश्व में अनुभूत होने वाले अशुभ के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण हैं— नैराश्यपूर्ण दृष्टिकोण और आशापूर्ण दृष्टिकोण। जर्मन दार्शनिक शोपेन हॉवर ने सम्पूर्ण विश्व को बुराईयों से परिपूर्ण माना है। उसका कहना है कि हम अतृप्त आकांक्षाओं और इच्छाओं की लाशलिए अवसाद की काली रात में जिन्दगी का भार ढोते रहते हैं। गौतमबुद्ध की दृष्टि में, जीवन का हर क्षण विषादमय है। संसार के हर सुखद वस्तु की अन्तिम परिणति भयंकर दुःख में होती है।

आशावादी दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों को सर्वत्र शुभ ही शुभ ही दिखता है। सरजॉन लुकबॉक ने अपनी पुस्तक ‘The pleasure of life’ में आगमनात्मक विधि से विश्व को आशा के चमकी ले रंगों से रंजित करके देखा है। लाइबनिट्ज ने अपनी कृति (Theodicy) में वर्तमान विश्व को ही सर्वोत्तम बताया है; किन्तु लाइबनिट्ज का यह दृष्टिकोण दो प्रकार के दो राहे एकान्तवाद के समान है। अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य ने विश्व को सत्य और असत्य का मिथुनीकरण कहा है; तो यह शुभ और अशुभ का मिथुनीकरण ही होगा।

15.2 शुभ के अस्तित्व के लिए अशुभ का होना आवश्यक है।

सर्वसंग्राही दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि अशुभ को समग्रता की दृष्टि से देखा जाए तो जो अशुभ है वह शुभ है। स्वाद की दृष्टि से कड़वी दवा अशुभ है किन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से शुभ है। अशुभ के कारण जीवन में शुभ का मूल्य है।

15.3 अशुभ शुभ का प्रशिक्षक है

यदि मनुष्य को आग छूने से जलने के बाद पीड़ा न होती; तो वह जब इच्छा होती जलकर मर जाता। दुःख मानव जीवन में प्रशिक्षक के रूप में उपस्थित होता है। कॉटे से कॉटा निकलता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अशुभ से ही शुभा का उत्सादन करके शुभ को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

अशुभ एक प्रकार का अभाव है और यह अभाव मनुष्य के कर्म के द्वारा स्वयं के निरसन की अपेक्षा करता है। इस प्रकार देखा जाए मनुष्य सुख के रूप में शुभ को अवश्य प्राप्त करने की चेष्टा करता है; किन्तु

शुभ की प्राप्ति में अशुभ बहुत ही उपयोगी है। अशुभ मनुष्य को विपत्ति के प्रति सावधान करता है। प्रो० टेनेण्ट का यह कहना है कि— “यदि विश्व का अध्ययन उसके समग्रता में किया जाए, तो अशुभ शुभ के विकास का उप परिणाम है”। कई बार गिर कर ही बच्चा चलना सीखती है।

इस प्रकार यह देखा जाए; तो स्पष्ट होता है कि विश्व में प्रचलित अशुभ के रूप हैं— प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ। प्राकृतिक अशुभ प्रकृति का विधान हैं, जिसपर मनुष्य का कोई वंश नहीं होता है। नैतिक अशुभ मनुष्य के संकल्प स्वातंत्र्य के दुरुपयोग का परिणाम होता है। प्रायः यह माना जाता है कि नैतिक अशुभ और प्राकृतिक अशुभ परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है। जब मनुष्य अपने संकल्प स्वातंत्र्य का दुरुपयोग करता है, तो ऐसे लोगों को दण्डित करने के लिए ईश्वर ने प्रकृति की व्यवस्था की है। जहाँ नैतिक अशुभ के कारण प्राकृतिक अशुभ उत्पन्न होता है, वहीं प्राकृतिक अशुभ से नैतिक अशुभ भी विकसित होता है। भूखा मनुष्य कौनसा पाप नहीं कर सकता—बुभु क्षितं किं न करोति पापं। प्रो० टेनेण्ट का तो यहाँ तक कहना है कि— “प्राकृतिक अशुभ से प्राप्त होने वाला दुःख दर्द वह मूल्य है, जो व्यक्ति को नैतिक उच्चता को प्राप्त करने में चुकाना ही पड़ेगा।”

15.4 अशुभ मानव जीवन का निश्चित सत्य है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि अशुभ मानव जीवन का एक निश्चित सत्य है। अशुभ को मानव जीवन से बिल्कुल बहिष्कृत नहीं किया जा सकता है। शारीरिक पीड़ा से कराहता हुआ व्यक्ति उसे भ्रम मात्र कह कर उस पीड़ा से मुक्त नहीं हो सकता। यह संभव है कि रहस्यानुभूति में अशुभ की सत्ता का विपरिलोपहो, किन्तु व्यवहार में अशुभ शुभ की ही भाँति यथार्थ है। मानव जीवन में सामान्यतया शुभ और अशुभ दोनों का ही प्रत्यक्षानुभूति होती है। परमार्थतः भलेही अशुभ का अस्तित्व न हो किन्तु व्यवहारतः अशुभ की सत्ता को अस्वीकार करना संभव नहीं है।

15.5 मैक्टागर्ड और फरेल का मत।

मैक्टागर्ड और फरेल का कहना है कि— “जिस विवेक से शुभ के अस्तित्व का निर्णय किया जाता है; उसी विवेक से अशुभ का अनस्तित्व है, तो शुभ भी अशुभ की ही भाँति अनस्तित्वान होगा। अतः अशुभ की वास्तविकता को नकारना एक निरर्थक प्रयास है।”

15.6 अशुभ अपूर्ण शुभ ही है।

प्रायः कुछ लोगों का मानना है कि अशुभ शुभ नहीं है अशुभ अपूर्ण शुभ हैं तो इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि शुभ भी अपूर्ण अशुभ है। सम्पूर्ण विश्व में सर्वत्र शुभ की सत्ता को स्वीकार करना एकान्तिक दृष्टिकोण है। अशुभ को न मानने से नैतिक सन्देहवाद का उदय होता है। जो सामान्य जीवन के लिए घातक हैं वास्तविकता यह है कि अशुभ ही मानव को शुभ की प्राप्ति के प्रति सचेत करता है।

15.7 अशुभ शुभ का साधन है।

कुछ लोगों का अशुभ के सम्बन्ध में कहना है कि अशुभ शुभ का साधन है। परन्तु यदि माना जाए कि अशुभ से शुभ की प्राप्ति होती है; तो दरिद्रता से समृद्धि की प्राप्ति होनी चाहिए; जबकि वास्तविकता यह है कि दरिद्रता अनेक बुराईयों की जननी है। यदि यह माना जाए कि अशुभ शुभ का साधन है; तो यह कौन निश्चित करेगा कि दुःख की कितनी मात्रा से सुख की कितनी मात्रा प्राप्त हो सकती है? यदि अशुभ को शुभ का कारण माना जाए तो यह कहना तर्क संगत होगा कि अधिक मात्रा वाला दुःख अधिक मात्रा वाले सुख को उत्पन्न करने में समर्थ है। परन्तु व्यवहारतः यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि अत्यधिक दुःख से बोझिल मानव अन्ततः घुटकर दम तोड़ देता है। ऐसी स्थिति में अत्यधिक दुःख से संतृप्त मनुष्य को कब और कैसे सुख की प्राप्ति होती है अतएव यह कहा जा सकता है कि शुभ और अशुभ का सृष्टि से स्वतंत्र अस्तित्व है। शुभ और अशुभ में से किसी को किसी का न तो साधन माना जा सकता है और न ही साध्य माना जा सकता है।

15.8 प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ एक दूसरे पर परस्पर निर्भर हैं।

प्रायः अशुभ के सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह भी है कि प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ का पूर्ववर्ती है या नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ का पूर्व वर्ती है। कुछ विचारक यह मानते हैं कि प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ को जन्म देता है। इन लोगों का यह कहना है कि प्राकृतिक अशुभ से संतप्त व्यक्ति ही नैतिक अशुभ का शिकार बनता है। ये लोग तर्क देते हैं कि भूखा व्यक्ति ही क्षुब्ध को तृप्त करने के लिए चोरी करने को विवश होता है। परन्तु कुछ लोगों का यह कहना है कि नैतिक अशुभ के लिए मनुष्य पूर्णतया उत्तरदायी है और नैतिक अशुभ भूकंप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, ग्लोबल वार्मिंग, ओजोन छिद्र जैसे अनेक प्राकृतिक अशुभ को जन्म देता है। यही कारण है कि अनेक परवर्ती विचारक यह मानने लगे हैं कि नैतिक अशुभ और प्राकृतिक अशुभ दोनों ही परस्पर पूरक हैं और एक दूसरे अशुभ की उत्पत्ति में योगदान देते हैं।

15.9 अशुभ की समस्या का औचित्य।

ईश्वरवाद के अनुरूप अशुभ की समस्या का कोई तर्क संगत एवं संतोष प्रद समाधान संभव नहीं है। ईश्वर को सर्वशक्तिमान एवं परम शुभ मानते हुए उसके द्वारा रचित इस जगत में दुःख एवं दुराचरण के रूप में विद्यमान अशुभ ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध एक ऐसी गम्भीर आपत्ति है, जिसका तर्कसंगत रूप में समाधान करना ईश्वरवादियों के लिए संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में सवाल यह उठता है कि ईश्वर का परित्याग कर देने पर अशुभ की समस्या का समाधान किस प्रकार किया जा सकता है? ईश्वरवाद को अस्वीकार कर देने के पश्चात् विश्व में विद्यमान प्राकृतिक एवं नैतिक अशुभ की संतोष प्रद व्याख्या कैसे हो सकती है और दुःख दुराचरण को कम करने के लिए मनुष्य क्या कर सकता है? अनेक दार्शनिकों ने ईश्वर के बिना इस समस्या का निराकरण करने का प्रयास किया है।

15.10 महात्मा बुद्ध के अनुसार अशुभ की समस्या का औचित्य

महात्मा बुद्ध ने ईश्वर को कोई स्थान दिये बिना ही मनुष्य की तृष्णा को ही उसके दुःख का मूल कारण मानते हैं, जो उनके अनुसार अविद्या से उत्पन्न होती है। परन्तु महात्मा बुद्ध के द्वारा दुःख की कीगयी व्याख्या की एक प्रमुख कठिनाई यह है कि वे अविद्या के स्वरूप एवं उद्गम की कोई संतोषप्रद व्याख्या नहीं कर पाते हैं। यद्यपि महात्मा बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग के निष्ठापूर्वक अनुसरण के द्वारा नैतिक अशुभ से मुक्ति को संभव मानते हैं, किन्तु रोग तथा अन्य प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न पीड़ा और दुःख रूप में संसार के सभी प्राणियों द्वारा अनुभूत प्राकृतिक अशुभ का कोई समाधान नहीं प्रस्तुत किया गया है।

व्यावहारिक दृष्टि से अशुभ की समस्या का समाधान खोजने का प्रयास करने पर यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक आपदाएं सभी प्राणियों के जीवन में अत्याधिक दुःख उत्पन्न करती हैं और इन सब प्राकृतिक आपदाओं को नियंत्रित करना मनुष्य के लिए संभव भी नहीं है। परन्तु मनुष्य सम्पोष्य विकास के द्वारा बाढ़, सूखा, अकाल, महामारी आदि प्राकृतिक आपदाओं कुछ सीमा तक कम करने में अवश्य सफल हो सकता है। मनुष्य पेड़-पौधों की सुरक्षा तथा वृद्धि, पर्यावरण की शुद्धि और अपने चारों ओर स्वच्छता का अधिकाधिक प्रयास करके अनेक प्राकृतिक आपदाओं का काफी सीमा तक निराकरण अवश्य प्राप्त कर सकता है। आज के युग में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप मनुष्य अनेक भयंकर एवं दुःखद स्थितियों को दूर करने में सक्षम अवश्य हो गया है; किन्तु अपने सम्पूर्ण जीवन से अशुभ को समाप्त नहीं कर सका है।

15.11 प्राकृतिक और नैतिक अशुभ का मानव जीवन पर प्रभाव

मनुष्य केवल प्राकृतिक अशुभ द्वारा ही पीड़ित एवं दुःखी नहीं होता है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य स्वयं अपने दुराचरण द्वारा जगत में जानबूझकर बहुत बड़ी मात्रा में दुःख को जन्म देता है। वहलालच, वासना, ईर्ष्या प्रतिरोध की भावना आदि आन्तरिक दुर्गुणों से प्रेरित हो कर दूसरों के लिए तथा स्वयं अपने लिए अत्यधिक दुःख उत्पन्न करता है। अतएव नैतिक अशुभ के लिए स्वयं मनुष्य ही उत्तरदायी है और वह अपने दुर्गुणों को नियमित करके इससे मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

15.12 विश्व स्तर पर अशुभ के कारण मानव जीवन पर बढ़ता संकट

वर्तमान समय में विश्व के सभी राष्ट्र पारस्परिक भय तथा अविश्वास के कारण घातक शास्त्रास्त्रों के संग्रह के द्वारा मानवजाति अनावश्यक दुःख से आक्रान्त होती जा रही है। विभिन्न राष्ट्रों के आपसी वैमनस्य एवं प्रतिद्वन्द्विता के कारण मनुष्य की अधिकांश बौद्धिक क्षमता और उसके आर्थिक संसाधनों का उपयोग लोक हित में न होकर केवल उसके सुरक्षा तंत्र को शक्तिशाली बनाने में लग जा रहा है। यह स्थिति मानव समाज को एक अनचाहे व्यापक दुःख की ओर ले जा रही है; जिससे भी बचने की आज महती आवश्यकता है।

मानव समाज में व्याप्त दुःख का एक प्रमुख कारण अज्ञान से उत्पन्न अंध विश्वास भी है। आज भी मनुष्य विज्ञान के विकास के पश्चात् भी अंधविश्वास से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सका है। विश्व के विभिन्न धर्म भी अन्ध विश्वास को समाप्त करने में योगदान देने के स्थान पर इन अंधविश्वासों को बनाये रखने में ही योगदान दे रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि इन अंधविश्वासों से बचा जा सके तथा ज्ञान-विज्ञान के द्वारा अज्ञा जनित अंधविश्वास से निजात पा लिया जाए, तो मानव समाज में विद्यमान दुःख निश्च ही कम हो सकता है।

15.13 निष्कर्ष

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि मनुष्य स्वयं अपने प्रयासों द्वारा संसार में विद्यमान अशुभ के मूल कारणों का निराकरण करके दुःख को पर्याप्त सीमा तक कर सकता है और इसके लिए ईश्वर जैसे किसी काल्पनिक दैवी शक्ति से सहायता की याचना करने की कोई आवश्यकता नहीं है, फिर भी अशुभ को पूर्णतया समाप्त नहीं किया जा सकता है। संसार सत्य और अनृत के मिथुनीकरण से बना है। अतएव संसार में विद्यमान अनृत ही वह तथ्य है, जो सत्य के शुभ त्वपक्ष को पूर्ण रूपेण प्रकट नहीं होने देता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि संसार का स्वरूप ही सत्य और अनृत का सम्मिलित रूप है; जिसे सभी प्राणियों को साक्षात् रूप में स्वीकार करना होता है। जब तक यह संसार है; तब तक इस संसार में किसी न किसी रूप में अशुभ भी अवश्य रहेगा। ऐसी स्थिति में मनुष्य का एकमात्र प्रयास अशुभ से बचकर शुभ की प्राप्ति का प्रयास करना है। अशुभ के लिए ईश्वर को जिम्मेदार ठहराना तथा संसार में केवल शुभ की ही परिकल्पना करना निराकल्पना है।

15.14 सारांश

अशुभ की समस्या के औचित्य पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि अशुभ हमारे जीवन में सर्वानुभूत सत्य है, जिसे नकारा नहीं जा सकता है। अशुभ का मानव जीवन में बहुत ही उपयोगिता है। अशुभ हमें संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। प्राकृतिक अशुभ मानव के नैतिक प्रगति में सहायक बन सकता है। सूखा और बाढ़ से प्रभावित मानव इससे बचने के उपायों को इजाद करता है। इतना ही परम शुभ तथा पूर्ण शुभ ईश्वर की यह विश्व योजना है कि मनुष्य अपने शुभ संकल्प का सदुपयोग करके अपने और सम्पूर्ण समाज के लिए शुभ का चुनाव करे और विकास के पथ पर अग्रसर हो। जो मनुष्य अविवेक परक आचरण करता है; वह ही नैतिक अशुभ का शिकार होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि यदि प्राकृतिक अशुभ के मूल में प्रकृति है तो नैतिक अशुभ के मूल में मनुष्य है।

15.15 प्रश्न बोध

1. अशुभ के औचित्य पर प्रकाश डालिए।
2. अशुभ का मानव जीवन में क्या प्रासंगिकता है? विवेचना कीजिए।

15.16 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्मदर्शन — डॉ० याकूब मसीह
2. धर्मदर्शन की मूलसमस्याएं — डॉ० वेद प्रकाश वर्मा
3. धर्मदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन — डॉ० शिवभानु सिंह

इकाई-16 आत्मा की अमरता

- 16.0 उद्देश्य
- 16.1 प्रस्तावना
- 16.2 अमरता के प्रकार
- 16.3 कर्म एवं पुनर्जन्म
- 16.4 कर्मों का वर्गीकरण
- 16.5 समीक्षा
- 16.6 सारांश
- 16.7 बोध- प्रश्न
- 16.8 उपयोगी पुस्तकें

16.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि अमरता से क्या तात्पर्य होता है ? अमरता कितने प्रकार की होती है? तथा कर्म कितने प्रकार के होते हैं

कर्म के सिद्धांत एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत को समझने का प्रयास करेंगे। हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि कर्म का सिद्धांत एवं पुनर्जन्म का सिद्धांत किस प्रकार से अमरता के सिद्धांत से अंतर्संबंधित हैं।

16.1 प्रस्तावना

विश्व के अनेक धर्मों में आत्मा के अस्तित्व और अमरता से संबंधित विश्वास को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है। अमरता की संकल्पना में माना जाता है की शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी किसी न किसी रूप में आत्मा का अस्तित्व विद्यमान रहता है। मृत्यु में केवल स्थूल शरीर का विनाश होता है ,आत्मा का नहीं। आत्मा का अमरता से संबंधित विचार अति प्राचीन है। प्रारंभ में इसे स्वतः सिद्ध मानते हुए तर्क से परे समझा जाता था, किंतु बाद में अमरता पर उठे संदेहों को दूर करने के लिए पश्चात् दर्शनों प्लेटों—एकविनास, डेकार्ट आदि ने भी तर्क के माध्यम से अमरता अमृता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। भारतीय चिंतन में भी उपनिषद्, गीता आदि में आत्मा को अमर स्वीकार किया गया है।

अमरता को स्वीकार करने के बावजूद इसके स्वरूप को लेकर मतभेद नहीं है। कुछ दार्शनिक मानते हैं की मृत्यु के उपरांत आत्म चेतना से युक्त व्यक्तित्व बना रहता है, जबकि कुछ धर्म में व्यक्तित्वहीन अमरता पर विश्वास किया जाता है। इनके अतिरिक्त शरीरी, अशरीरी, सामाजिक – जैविक सीमित, असीमित आदि अमरताओं का उल्लेख भी मिलता है। इन सभी विवरणों में शरीर के अंत के साथ आत्मा के अंत को अस्वीकार किया गया है।

16.2 अमरता के प्रकार

सामान्यतः अमरता के दो विभेद किए जाते हैं – जैविक अमरता एवं सामाजिक अमरता। जैविक अमरता यह है जिसके अंतर्गत यह माना जाता है कि व्यक्ति तो मर जाता है परंतु संतान के रूप में वह अमर रहता है। जैसा कि वर्गसा लिखता है कि जीवन एक ऐसा प्रवाह है जो एक कीटाणु से दूसरे कीटाणु में प्रवाहित होता है रहता है और इस प्रकार कीटाणु जीवन के माध्यम से अमर जीवन की संभावना सिद्ध होती है, इसे ही जैविक अमरता कहते हैं।

इस आधार पर प्लेटो कहते हैं कि वर्तमान जीवन में हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह पूर्वजन्म में प्राप्त हमारे ज्ञान की स्मृति मात्र है। उनका प्रसिद्ध कथन है कि समस्त ज्ञान पुनः स्मरण मात्र है। प्लेटो मानते हैं कि प्रत्येक ज्ञान के लिए कुछ अनिवार्य एवं सार्वभौम प्रत्यय होते हैं, जो की अनुभव जन्य ना होकर स्मृति जन्य

है। शारीरिक सहचर्य एवं इंद्रिय जगत से संबंधित होने के कारण आत्मा का विवेक क्षीण हो जाता है, उसे पूर्व जन्म का केवल धुंधला स्मरण रहता है, जिससे सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म से आत्मा संबंधित है।

प्लेटो अपनी पुस्तक 'मीनो' में एक ऐसे छात्र का उल्लेख करते हैं, जो गणितीय ज्ञान से अपरिचित होने पर भी कौशल पूर्ण तर्क पद्धति से गणितीय ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस आधार पर प्लेटो कहते हैं कि स्मरण करने की प्रक्रिया ही शिक्षण है, क्योंकि आत्मा में पहले से ही वह अंतर निहित होता है। प्रथम बार आत्मा को ज्ञान की प्राप्ति दिव्य लोक में अदैहिक अवस्था में हुई होगी।

आत्मा की अमरता के विषय में भारतीय दर्शन के अंतर्गत व्यापक चिंतन हुआ है, जिसमें कर्म सिद्धांत एवं पुनर्जन्म के आधार पर आत्मा की अमरता का समर्थन मिलता है। कर्म सिद्धांत के अनुसार आत्मा ही वास्तविक कर्ता तथा भोक्ता है। हमें अपने द्वारा किए गए प्रत्येक कर्म का फल भोगना अनिवार्य है, इसलिए शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होती है। बृहदानर्थक उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा अविनाशी एवं उच्छेद रहित है। यह अजन्मा, अजर— अमर एवं अमित स्वरूप है। अमरता के संदर्भ में भागवतगीता में भी व्यापक चिंतन मिलता है।

गीता में कहा गया है कि जिस प्रकार मानव — आत्मा शैशव, यौवन एवं प्रौढ़ जैसी विभिन्न शारीरिक अवस्था में स्थित रहती है, उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात वह विभिन्न शरीरों में निवास करती है। आत्मा कभी नष्ट नहीं होती, शस्त्र उसे कभी मार नहीं सकते और अग्नि उसे जला नहीं सकती। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण गीता में मिलते हैं, जो की अमरता का समर्थन करते हैं। सांख्य एवं वेदांत दर्शन मानते हैं की सूक्ष्म, शरीर, आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में अतिक्रमण करता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा पुनर्जन्म के समय जिस शरीर में प्रवेश करती है, उसका आकार ग्रहण कर लेती है।

इसमें कई दोष हैं— पहला, ऐसी अमरता अत्यंत ही सीमित हो जाती है क्योंकि बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जो आविवाहित हैं और जो विवाहित हैं उनमें भी कई निरुसंतान हैं। यदि इस अवधारणा को मान लिया जाए कि व्यक्ति संतान के रूप में ही जीवित रहता है तब निश्चित ही ऐसे लोग अमरत्व को प्राप्त नहीं कर सकते। दूसरा, अमरत्व की यह अवधारणा व्यक्ति के मन को संतोष नहीं दिला पाती, क्योंकि वह तो जानता है कि हमें तो निश्चित रूप से मरना ही है। तीसरा, यह की धर्म परायण व्यक्ति अमरत्व की उसी अवधारणा को मानते हैं जो शरीर से पृथक् एवं शाश्वत हो।

इसके विपरीत कुछ दार्शनिक सामाजिक अमरता की अवधारणा को मानते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति तो मर जाता है फिर भी वह समाज में कुछ मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना करता है। अतः वह उन्हें मूल्यों एवं आदर्शों के माध्यम से समाज में जीवित रहता है। यथा— स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, रविंद्र नाथ टैगोर जैसी प्रवृत्ति के सभी व्यक्ति समाज में मूल्यों की स्थापना कर आज भी अमर हैं। ऐसी अमरता को सामाजिक अमरता कहते हैं।

इसमें यह दोष है कि यह अमरता बहुत ही सीमित लोगों को प्राप्त हो पाती है क्योंकि समाज में ऐसे बहुत कम लोग हैं जो मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना कर पाते हैं। यही नहीं यह अवधारणा मनुष्य के अंतर्गत मृत्यु के भय को परास्त भी नहीं कर पाती क्योंकि वह जानता है कि वह समाज में मूल्यों की स्थापना ना कर पाने के कारण अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होगा। इस दृष्टि से मांटेस्क्यू का यह विचार ठीक ही प्रतीत होता है कि व्यक्तिगत अमरता ही हमारा सर्वोच्च आदर्श है।

एक अन्य दृष्टिकोण से अमरता को अशारीरिक एवं शारीरिक इन दो भागों में विभक्त किया गया है। अशारीरिक अमरता वह है जिसके अंतर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि मृत्यु के उपरांत व्यक्ति का शरीर तो विनष्ट हो जाता है परंतु आत्म—चेतना से युक्त उसका व्यक्तित्व बना रहता है य इस अशारीरिक अमरता के भी दो भेद किए गए हैं, व्यक्तित्वपूर्ण अमरता एवं निर्व्यक्तिक अमरता। व्यक्तित्वपूर्ण वह है जहां मृत्यु के उपरांत मनुष्य का आत्म — चेतना से परिपूर्ण व्यक्तित्व बना रहता है य भारतीय दर्शन में वैष्णो संप्रदाय तथा पश्चात परंपरा में जसिया रायस एवं मैक्टेगर्ट आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने व्यक्तित्वपूर्ण अमरता को माना है। वैष्णो संप्रदायी मानते हैं कि मनुष्य मृत्यु के उपरांत ईश्वर के लोक में पहुंचता है, वहां पर उसके अहंकार का तो अंत हो जाता है परंतु उसका चेतन से परिपूर्ण व्यक्तित्व बना रहता है। ताकि वह ईश्वर की भक्ति एवं आराधना कर सके। इस प्रकार वैष्णो संप्रदाय मानते हैं की मोक्ष में व्यक्तित्व का अंत नहीं होता, बल्कि अहंकार का अंत होता

है।

जसिया रायस भी मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट एवं अनूठा व्यक्तित्व होता है जिसका स्थानापन्न कोई दूसरा व्यक्ति नहीं हो सकता। उसके अनुसार ईश्वर में व्यक्ति प्रयोजन एवं मूल्य की दृष्टि से जीवित रहता है। जिस प्रकार संपूर्ण संख्याओं का समूह अनंत होते हुए भी प्रत्येक संख्या दूसरे से पृथक् है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर की अनंतता में स्थित होते हुए भी अपना पृथक् व्यक्तित्व अक्षुण्ण बनाए रहता है। इसी प्रकार मैक्टेगर्ट का कहना है कि आत्माओं का निरपेक्ष में वही स्थान है जो समाज में व्यक्ति का।

दूसरी ओर व्यक्तित्व रहित अमरता की संकल्पना भारतीय दार्शनिक आचार्य शंकर स्वीकार करते हैं। आचार्य के अनुसार जब जीव को मोक्ष मिलता है तब उसका ब्रह्म से पृथक् व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जीव ब्रह्म के समतुल्य नहीं होता जैसा की वैष्णव संप्रदायी मानते हैं अपितु जीव साक्षात् ब्रह्मा हो जाता है। इस अवस्था में जीव एवं ब्रह्म के बीच विभेद का प्रभाव हो जाता है जीव का जीवत्व ब्रह्म में उसी प्रकार विलीन हो जाता हो, जिस प्रकार एक घड़े का जल समुद्र के जल में विलीन हो जाने के उपरांत घड़े के जल और समुद्र के जल के बीच भेद समाप्त हो जाता है अर्थात् दोनों में तादात्म्य हो जाता है। इसी प्रकार जीव एवं ब्रह्म में तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

व्यक्तित्व रहित अमरता के विपरीत शारीरिक अमरता की अवधारणा है। इसके अंतर्गत मनुष्य के सदेह अमर होने की कल्पना की गई है। उनके अनुसार मृत्यु के उपरांत व्यक्ति का पुनर्जन्म तो नहीं होता है अपितु वह सशरीर न्याय दिवस के दिन ईश्वर के समक्ष उपस्थित होता है, जहां उसके कर्मों का मूल्यांकन होता है। इसलिए इन धर्मों में केवल मनुष्य ही अमरत्व का अधिकारी है ना कि पशु पक्षी या अन्य प्राणी। इस मत का समर्थन इस्लाम, यहूदी और ईसाई धर्म में किया गया है।

अंततः व्यापकता की दृष्टि से अमरत्व के दो भेद किए जाते हैं यव्यापक अमरता एवं सीमित अमरता। व्यापक अमरता के अंतर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि सभी मनुष्य यहां तक की पशु – पक्षी भी एक न एक दिन अमरत्व को अवश्य ही प्राप्त करेंगे। इसके लिए ना तो शुभ कर्म आवश्यक है ना ही ईश्वरीय कृपा। स्पष्टतरु यह अवधारणा केवल और केवल हिंदू धर्म में मानी गई है। इसके विपरीत ईसाई धर्म में यह माना गया है कि केवल शुभ कर्म करने वाला मनुष्य ही अमरत्व को प्राप्त कर सकता है और दूसरा यह कि केवल और केवल मनुष्य ही अमरत्व को प्राप्त कर सकता है कोई अन्य प्राणी नहीं क्योंकि वाइविल की परंपरा में आत्मा केवल मनुष्य के अंतर्गत है अन्य प्राणियों के अंतर्गत नहीं। अपनी इसी मान्यता के आधार पर यह केवल मनुष्य को ही अमरता का अधिकारी मानते हैं।

16.3 कर्म एवं पुनर्जन्म

भारतीय दर्शन और धर्म में तथा विश्व के अन्य धर्मों में भी जहाँ 'कर्म और पुनर्जन्म' की चर्चा की गयी है, वहाँ 'कर्म' का ताल 'कर्म का नियम' या 'कर्म' का सिद्धान्त या 'कर्मवाद' है। सामान्य रूप से 'कर्म' मनुष्य के शरीर या मन से की जाने वाली वह क्रिया है जो बाह्य या आन्तरिक जगत् में कोई परिवर्तन उत्पन्न करे। यह 'कर्म' 'ऐच्छिक' भी हो सकता है, और 'अनैच्छिक' भी। नैतिक दृष्टि से मनुष्य द्वारा किया गया वही 'कर्म' उत्तरदायित्वपूर्ण माना जाता है, जो ऐच्छिक रूप से किया जाता है। अर्थात् किसी कर्म को मनुष्य सोच-समझकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से करता है। अनैच्छिक कार्यों का उत्तरदायित्व नैतिक दृष्टि से मनुष्य के ऊपर नहीं थोपा जाता। जिस तरह भौतिक क्षेत्र में पायी जाने वाली व्यवस्था की व्याख्या 'कारण-नियम' से होती है, उसी प्रकार नैतिकता के क्षेत्र में पायी जाने वाली व्यवस्था की व्याख्या कर्म-सिद्धान्त करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य द्वारा किए गए शुभ कर्मों का फल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि मनुष्य द्वारा किए गए कर्मों का फल कभी नष्ट नहीं होता, और साथ ही यदि मनुष्य ने कोई कर्म नहीं किया है तो उसका फल भी उसे नहीं प्राप्त होता। सदैव किए हुए कर्मों के फल प्राप्त होते हैं। 'कर्म-सिद्धान्त' के विषय में डॉ० राधाकृष्णन ने सरल रूप से इस प्रकार कहा है— 'कर्म सिद्धान्त के अनुसार नैतिक जगत् में अनिश्चित एवं मनमाना कुछ नहीं है।'

कर्म सिद्धान्त के विषय में यह जोर देकर कहा गया है कि 'सुकर्मों द्वारा ही मनुष्य पुण्यात्मा बनता है। बृहदारण्यक उपनिषद् का सन्दर्भ देते हुए कहा गया है कि 'पुण्य कर्मों से मनुष्य पुण्यात्मा एवं पाप कर्मों से पापी होता है।' इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार कहा गया है कि श्मनुष्य इस लोक में जैसे संकल्प धारण

करता है, वैसा ही मरने के बाद होता है, अतः मनुष्य को सत्संकल्प करने चाहिए। कर्म सिद्धान्त कहता है “कर्म के प्रतिफल के ही लिए इस जन्म एवं मृत्यु वाले संसार की सृष्टि होती है, जो अनादि है एवं अनन्त है। कर्म का सिद्धान्त अपनी लपेट में मनुष्यों, देवताओं पशुजगत एवं वनस्पति सबको ले लेता है।”

कर्म-सिद्धान्त का सीधा सम्बन्ध कर्मों से है। कर्म-फल की प्राप्ति होनी ही है। कर्म-फल की प्राप्ति की दृष्टि से कर्मों का वर्गीकरण किया गया है। भारतीय दर्शन में दार्शनिकों ने अपने मत के अनुसार कर्मों का वर्गीकरण किया है। कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करने वाले दार्शनिकों ने यह स्वीकार किया है कि वर्तमान जीवन अतीत जीवन के कर्मों का फल है और भविष्य का जीवन वर्तमान के जीवन का फल होता है। इसका अर्थ यह हुआ है कि भूत, भविष्य और वर्तमान कारण-कार्य की शृंखला में ग्रथित है। यदि कोई व्यक्ति दुःखी है तो कर्म-सिद्धान्त के अनुसार ऐसी मान्यता है कि दुःख व्यक्ति के पूर्व जीवन का फल है। यदि व्यक्ति भविष्य के जीवन में सुखी रहना चाहता है तो उसे वर्तमान जीवन में उसके लिए प्रयत्न करना होगा। इसी अर्थ में कहा गया है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है। कर्म की इस मान्यता को विभिन्न दर्शनों में अपने तरीके से निरूपित किया गया है।

कर्म-सिद्धान्त को सर्वप्रथम ‘वेद’ में देखा जा सकता है। वेद इसे नैतिक व्यवस्था के रूप में मानता है। इस व्यवस्था को वह ‘ऋत’ कहता है। ऋत और कुछ नहीं ‘जगत की व्यवस्था’ के रूप में हैं। अर्थात् जगत की व्यवस्था नैतिक व्यवस्था के रूप में देखी जा सकती है। वेद के पश्चात् ‘ऋत’ का मत उपनिषद् में कर्म-सिद्धान्त या कर्मवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। न्याय-वैशेषिक कर्म-सिद्धान्त को ‘अदृष्ट’ की संज्ञा देता है। इसे अदृष्ट इसलिए कहा जाता है कि यह दृष्टिगत नहीं होता। विश्व इसी से प्रभावित है। मीमांसा में इसे (कर्म-सिद्धान्त) ‘अपूर्व’ कहा गया है। न्याय वैशेषिक और मीमांसा में अन्तर यह है कि जहाँ न्याय-वैशेषिक यह मानता है कि ‘अदृष्ट’ का संचालन ईश्वर द्वारा होता है, वहाँ मीमांसा का कहना है कि अपूर्व को संचालित करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।

कर्म-सिद्धान्त के विषय में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि कर्म-सिद्धान्त केवल उन्हीं कर्मों पर लागू होता है, जो कर्म वासना या राग-द्वेष से युक्त होते हैं। इसके विपरीत निष्काम भाव से किए गए कर्मों के विषय में कर्म सिद्धान्त लागू नहीं होता। कहा जाता है कि ‘निष्काम भाव से किए गए कर्मों के विषय में कर्म-सिद्धान्त लागू नहीं होता। कहा जाता है कि ‘निष्काम भाव से किए गए कर्मों के विषय में कर्म-सिद्धान्त लागू नहीं होता। कहा जाता है कि ‘निष्काम कर्म’ भूजें हुए ऐसे चने के समान है जो जमीन में बोने पर अंकुरित नहीं हो सकता। अर्थात् ‘निष्काम कर्म पर कर्म-सिद्धान्त कार्य नहीं कर सकता।

16.4 कर्मों का वर्गीकरण

कर्मों का वर्गीकरण कर्म के फल की प्राप्ति की दृष्टि से भी किया गया है। ऐसे तीन प्रकार के कर्म बताए हैं— 1. प्रारब्ध 2. संचित और 3. संचयीमान अथवा क्रियमाण कर्म। प्रारब्ध कर्म उन्हें कहते हैं जिन कर्मों को मनुष्य पहले कर चुका है और जिसका फल व्यक्ति को मिलना प्रारम्भ हो गया है। इसका सम्बन्ध अतीत के जीवन से है। प्रारब्ध कर्मों का फल मनुष्य को अवश्य ही भोगना है। संचित कर्म उस कर्म को कहते हैं, जिन्हें मनुष्य अपने पूर्व जन्म के कर चुका है किन्तु उसके फल की प्राप्ति अभी शुरू नहीं हुई है। कहा जाता है कि साधना या ईश्वर की कृपा से संचित कर्मों के फल में परिवर्तित करना मनुष्य के लिए संभव है। संचयीमान या क्रियमाण कार्य उसे कहते हैं, जिन्हें मनुष्य अपने वर्तमान जीवन में कर रहा है और उन कर्मों का फल इस जीवन में नहीं भविष्य के जीवन में प्राप्त होगा। इस क्रियमाण या संचयीमान कर्मों को करने में मनुष्य स्वतन्त्र रहता है। इन कर्मों द्वारा मनुष्य अपने भविष्य के जीवन का अथवा भाग्य का निर्माण कर सकता है। यदि मनुष्य सत्कर्म करता है तो उसका भावी जीवन सुधर जाता है अर्थात् उसको मोक्ष की प्राप्ति में ये कर्म सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

कर्मवाद या कर्म-सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त लगा हुआ है। बिना पुनर्जन्म के कर्म के सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की जा सकती। यह भी कहा जाता है कि ‘कर्म सिद्धान्त की दृष्टि से पुनर्जन्म नैतिक अनिवार्यता है।’ यह अनिवार्यता इसलिए कि प्रत्येक कर्म का फल अवश्य मिलना है। अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है। यदि मान लिया जाय कि मृत्यु के पश्चात् व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता, तो नैतिक अव्यवस्था फैलने से कोई रोक नहीं सकता। इस अव्यवस्था से तो अनैतिक कार्यों को करने

वालों को दण्ड नहीं मिल पाएगा और अच्छे कार्यों को करने वाला पुरस्कृत नहीं हो सकेगा। इतना ही नहीं 'कर्म-सिद्धान्त' पर लोगों का विश्वास नहीं रहेगा। परन्तु यह सर्व विदित है कि कर्म-सिद्धान्त कभी असफल नहीं हो सकता। यह ऐसा नियम है, जिसका अपवाद नहीं है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार तो मनुष्य को अपने हर भले या बुरे कर्मों का फल भोगना ही है। कर्म-सिद्धान्त में निश्चयवाद होने से प्रत्येक व्यक्ति भले कार्य के लिये प्रेरित होता है और बुरे कार्यों को करने से डरता है।

अतः ऐसी स्थिति में हम यह मानने के लिए विवश हैं कि मृत्यु का अर्थ मनुष्य का विनाश नहीं, वरन् मृत्यु ऐसा परिवर्तन है, जिसके अनुसार मनुष्य एक काया (शरीर) छोड़ कर दूसरा शरीर धारण करता है। अर्थात् मृत्यु के पश्चात् मनुष्य रहता है और उसका पुनर्जन्म होता है। इसका यह भी अर्थ होता है कि वर्तमान जन्म के बिना भोगे कर्मफलों को भोगने के लिए मृत्यु के पश्चात् भी मनुष्य का अस्तित्व रहता है और उसे फिर से जन्म लेना आवश्यक है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त नैतिक अनिवार्यता के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। चार्वाक दर्शन को छोड़ कर पुनर्जन्म में सभी आस्तिक और नास्तिक दोनों प्रकार के सम्प्रदायों का विश्वास है। चार्वाक को छोड़कर यह भी सभी मानते हैं कि पुनर्जन्म कर्म के सिद्धान्त से फलित होता है। श्कर्म का सिद्धान्त यह माँग करता है कि शुभ कर्मों का शुभ फल मिले और अशुभ कर्मों का अशुभ फल। लेकिन सब कर्मों का फल इसी जीवन में मिल जाना संभव नहीं है। इसलिए कर्मफल को भोगने के लिए दूसरा जन्म आवश्यक है। संसार जन्म और मृत्यु की एक अनादि श्रृंखला है। इसका कारण अज्ञान और मिथ्या ज्ञान है। जब तत्त्वज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है, तब संसार का अन्त हो जाता है। संसार बन्ध है। बन्ध का नाश मोक्ष से होता है। बन्ध का कारण अज्ञान है। मोक्ष का कारण तत्त्वज्ञान है।

इस सम्बन्ध में यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों का मत कुछ भिन्न है। इनके अनुसार आत्मा की अमरता तथा कर्म के सिद्धान्त में विश्वास किया जाता है, किन्तु पुनर्जन्म में विश्वास नहीं किया जाता। इनके अनुसार मनुष्य के जिन कर्मों का फल वर्तमान जीवन में नहीं मिलता उनका फल पाने के लिए उसकी आत्मा को 'अन्तिम निर्णय के दिन' तक की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उसी दिन ईश्वर न्याय करता है और लोगों के कर्मों के अनुसार उन्हें नरक या स्वर्ग में भेजा जाता है। अतः कहा जा सकता है कि ये तीनों पुनर्जन्म में विश्वास न करते हुए भी कर्म के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं।

16.5 समीक्षा

कर्म-सिद्धान्त ईश्वर के लिए एक चुनौती है। यदि मनुष्य 'जैसा करेगा वैसा भरेगा', यह सत्य है तो फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता ? कहा जाता है कि ईश्वर ही जन्म-मरण का कारण है। वह सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है तो फिर यह क्यों कहा जाता है ईश्वर ही जन्म-मरण का कारण हैं। वह सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है तो फिर यह क्यों कहा जाता है कि मनुष्य ने जो कुछ भूतकाल में किया था वह वर्तमान काल में भोग रहा है और जो वर्तमान काल में कर रहा है, उसका फल भविष्य में प्राप्त करेगा। यदि यही सत्य है तो कर्मवाद या कर्म-सिद्धान्त ही सब कुछ है। ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं।

कर्म सिद्धान्त में यह कहा जाता है कि मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है, परन्तु कर्मों को पहले मानने पर यह कठिनाई उत्पन्न होगी कि बिना जीव के अस्तित्व के कर्मों का अस्तित्व कैसे संभव है। यदि जीव को काल की दृष्टि से पहले माना जाय तो वह बिना कर्म किए किस कर्म का फल प्राप्त करता है ? जीवों तथा कार्यों में से किसका अस्तित्व पहले माना जाय—

कहा तो यह जाता है कि पुनर्जन्म का विचार कर्म-सिद्धान्त के अनुसार एक नैतिक अनिवार्यता है। आलोचकों का कहना है कि आत्मा, ईश्वर, सूक्ष्म शरीर और पुनर्जन्म आदि की बातें केवल मान ली गयी हैं, इनके समर्थन में न कोई प्रमाण है और न कोई प्रमाण माँगता ही है। इनको केवल मान लिया गया है। पुनर्जन्म का विचार अवैज्ञानिक है:

कर्म-सिद्धान्त में एक और आपत्ति जनक बात है उसका अत्यन्त व्यक्ति केन्द्रित होना। अधिकतर समय व्यक्ति की वर्तमान स्थिति के लिए उसके अपने पूर्वजन्मों की ओर ही हमें देखने के लिए कहा जाता है, इससे वर्तमान के संघर्ष एवं उत्तरदायित्व की उपेक्षा हो जाती है।

16.6 सारांश

उपरोक्त कठिनाइयों के होते हुए भी यह मानव जीवन में सकारात्मक भूमिका निभाता है। यहां डॉ० राधाकृष्णन का यह विचार स्वीकार करना ही होगा— 'इस जगत में प्रतीयमान जितनी भी नैतिक अवस्था अथवा दुःखों की विशृंखलता है, पूर्वजन्म एवं कर्म का सिद्धान्त ही उसकी व्याख्या कर सकता है।' इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म का एक ओर जितना महत्व नैतिक दृष्टि से व्यक्ति के जीवन में है, उतना ही महत्व सामाजिक दृष्टि से धर्म के अन्तर्गत भी है। दोनों व्यष्टि तथा समष्टि के लिए आवश्यक है।

16.7 बोध प्रश्न

1. अमरता के प्रकारों की विवेचना कीजिए।
2. कर्म के सिद्धांत एवं पुनर्जन्म के सिद्धांत पर प्रकाश डालिए।
3. कर्म कितने प्रकार के होते हैं उल्लेख कीजिए।

16.8 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्म दर्शन — डॉ याकूब मसीह।
2. धर्म दर्शन की मूल समस्याएं— डॉ वेद प्रकाश वर्मा।
3. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन— डॉ शिव भानु सिंह।

खण्ड परिचय

प्रतीक अपने से पृथक् किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत करते हैं। अथवा उसका प्रतिनिधित्व करते हैं ये जिन वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं उनमें सहभागी भी होते हैं। वह स्वयं को इंगित नहीं करते बल्कि उसके सादृश्य से अन्य सत्ता की जानकारी मिलती है। प्रतीक वहीं आवश्यक माने जाते हैं जहां किसी ऐसी सत्ता की सूचना मिलती है जिसे शब्दों में पूरी तरह से संप्रेषित नहीं किया जा सकता।

सामान्य प्रतीकों से भिन्न धार्मिक प्रतीक होते हैं। तिलिक के अनुसार सामान्य प्रतीक जिस सत्ता की ओर संकेत करते हैं उन्हें प्रतीकों की सहायता के बिना भी जाना जा सकता है किन्तु धार्मिक प्रतीक जिस परमसत्ता की ओर संकेत करते हैं उन्हें प्रतीकों की सत्ता नहीं समझा जा सकता क्योंकि यह सत्ता अनुभवाती है। धार्मिक प्रतीकों का स्वरूप व्यापक है जिसके अन्तर्गत ईश्वर, धर्मगुरु, धर्मग्रन्थ आदि सभी आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष कर्मकाण्डों तथा मृत वस्तुओं को भी धार्मिक प्रतीक माना जाता है। यहां तक कि धर्मपरायण व्यक्ति जिस ईश्वर की उपासना करते हैं उसे भी तिलिक प्रतीक मानते हैं। उनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म तक पहुंचने के लिए सगुण ईश्वर की उपासना प्रतीकात्मक है। मोक्ष के क्रम में ईश्वरोपासना अनावश्यक हो जाती है।

इकाई-17 धार्मिक भाषा

धार्मिक ज्ञान (भाषा)—संज्ञानात्मक असंज्ञानात्मक

- 17.0 उद्देश्य
- 17.1 प्रस्तावना
- 17.2 संज्ञानात्मक
- 17.3 असंज्ञानात्मक
- 17.4 सादृश्यतावाद
- 17.5 प्रतीकवाद
- 17.6 निष्कर्ष

17.0 उद्देश्य

धर्म दर्शन के अन्तर्गत विचार की जाने वाली महत्वपूर्ण समस्याओं में धार्मिक ज्ञान का स्वरूप प्रमुख है। सामान्य रूप से ज्ञान का अर्थ है कि मनुष्य अपने अनुभव निरीक्षण और तर्क बुद्धि आदि के द्वारा जो कुछ जानता है या जान सकता है वह ज्ञान है। इस ज्ञान को जब हम धार्मिक विषयों के सन्दर्भ में जैसे ईश्वर का अस्तित्व, आत्मा की अमरता, भक्ति आदि में प्रयुक्त करते हैं तो यह धार्मिक ज्ञान कहलाता है। विश्व के प्रमुख धर्मों अथवा धर्म ग्रन्थों में भी प्रायः इन्हीं विषयों से संबंधित कथनों या सिद्धांतों को धार्मिक ज्ञान के अन्तर्गत माना गया है। इस ज्ञान को जिस भाषा में व्यक्त किया जाता है वह धार्मिक भाषा है।

17.1 प्रस्तावना

प्रथम स्वरूप संज्ञानात्मक सिद्धांत का है। संज्ञानात्मक ज्ञान के दो प्रकार सश्लेषणात्मक या तथ्यात्मक एवं द्वितीय विश्लेषणात्मक या आकारिक होते हैं। आनुभविक या तथ्यात्मक ज्ञान, हमें जगत के संबंध में नवीन तथा तथ्यात्मक जानकारी प्रदान करते हैं। हमारी सामान्य भाषा एवं प्राकृतिक सामाजिक विज्ञानों के सभी तथ्यपरक कथन तथ्यात्मक ज्ञान के अन्तर्गत आते हैं जैसे कलम मेज पर है, गुलाब लाल है या सभी ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। इस प्रकार के कथनों को संज्ञानात्मक कथन भी कहा जाता है।

ज्ञान के द्वितीय प्रकार आकारिक की विशेषता है कि इससे संबंधित कथन अनिवार्यतः विश्लेषणात्मक होते हैं, अर्थात् कुछ शब्दों के विश्लेषण पर ही यह ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे त्रिभुज की तीन भुजाएं होती हैं या सभी कुंवारे अविवाहित होते हैं। इस ज्ञान के द्वारा जगत अथवा इससे संबंधित किसी वस्तु विशेष का तथ्यात्मक ज्ञान अथवा नवीन ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। एक अन्य अर्थ में इस प्रकार के कथनों में विधेय, उद्देश्य पद की पुनरावृत्ति मात्र होते हैं।

स्पष्टतः धार्मिक कथन हमें ईश्वर या किसी अन्य पारलौकिक सत्ता से संबंधित कुछ विशेष प्रकार के अलौकिक (धार्मिक तथ्य) का ज्ञान प्रदान करते हैं। इसी व्याख्या के आधार पर वे धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक कथन मानते हैं। बेसिल मिचल एवं जान हिक धार्मिक ज्ञान की संज्ञानात्मकता को वैज्ञानिक एवं लौकिक ज्ञान की मिथ्यापनीयता एवं सत्यापनीयता की कसौटी पर कस कर सिद्ध करना चाहते हैं।

मिथ्यापनीयता के सिद्धांत के अनुसार वही ज्ञान सार्थक है जिसके मिथ्यापित होने की संभावना है। इस सिद्धांत को कार्ल पापर ने दिया था। इस आधार पर मिचल का यह मानना है कि धार्मिक कथनों की मिथ्यापनीयता संभव है, अतः ये कथन तथ्यपरक कथन हैं। दूसरी तरफ हिक, मरणोत्तर सत्यापन सिद्धांत को स्वीकार करते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार मरने के बाद की स्थिति में व्यक्ति धार्मिक कथनों का विशेष प्रकार के अनुभव द्वारा सत्यापन करता है। क्रौम्बी ने धार्मिक ज्ञान को तथ्यपरक ज्ञान सिद्ध करने के लिए सादृश्य सिद्धांत का प्रयोग किया है। उनका आधारभूत तर्क है कि मानवीय गुणों के सादृश्य के आधार पर ईश्वरीय गुणों

का ज्ञान संभव है। एक अन्य समकालीन दार्शनिक एल0मैस्कल ने भी धार्मिक ज्ञान के लिए इस सिद्धांत को बहुत महत्वपूर्ण माना था।

इस मत के समर्थक मानते हैं कि धार्मिक ज्ञान से हमें जीवन, जगत, ईश्वर आदि के बारे में तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त होता है साथ ही, धर्म परायण व्यक्ति धार्मिक ज्ञान को असंदिग्ध रूप से सत्य मानते हैं। इस तरह धर्म परायण व्यक्ति धार्मिक ज्ञान को एक ऐसा संश्लेषणात्मक ज्ञान मानते हैं। जो सदैव सत्य होता है। संज्ञानात्मक सिद्धांत में भी धार्मिक ज्ञान को तथ्यात्मक, असंदिग्ध रूप में सत्य एवं सश्लेषणात्मक ज्ञान माना जाता है।

17.2 संज्ञानात्मक

उपर्युक्त मत से असंज्ञानवादी सहमत नहीं हैं। वस्तुतः धार्मिक ज्ञान को हम संज्ञानात्मक कथन के अन्तर्गत नहीं रख सकते, अर्थात् धार्मिक ज्ञान अनुभव के द्वारा सत्यापित नहीं हो सकते। संज्ञानात्मक कथन का अर्थ है जो तथ्यात्मक होने के साथ-साथ आनुभवित स्तर पर सत्य या मिथ्या प्रमाणित किये जा सकें इस दृष्टि से विचार करने पर धार्मिक ज्ञान या इससे संबंधित धार्मिक कथन वास्तविक रूप में संज्ञानात्मक सिद्ध नहीं होते। जैसे-आत्मा अमर है या ईश्वर शक्तिशाली है जैसे कथनों की आनुभविक स्तर पर सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। आकारिक ज्ञान के द्वारा यदि हम धार्मिक ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास करें तो धार्मिक ज्ञान इस कसौटी के अनुरूप नहीं है। जैसे धर्म परायण व्यक्ति जब यह कहता है कि ईश्वर या किसी अप्राकृतिक सत्ता का अस्तित्व है तो वह व्यक्ति उस कथन को मात्र आकारिक नहीं मानता बल्कि इसमें तथ्यात्मक एवं नवीनता का दावा वस्तुगत एवं स्वतंत्र अतीन्द्रिय ईश्वर के अस्तित्व, गुणों एवं कारणों आदि का बोध कराते हैं। उपर्युक्त आधार पर ब्रेथवेट महोदय धार्मिक ज्ञान से संबंधित कथनों को विश्लेषणात्मक कथन नहीं मानते। तार्किक भाववादी एअर भी विश्लेषणात्मक श्रेणी से अलग धार्मिक कथनों को निरर्थक कहते हैं।

17.3 असंज्ञानात्मक

इस क्रम में महत्वपूर्ण मत असंज्ञानात्मक सिद्धांत है। इसके समर्थक दार्शनिक एयर, फ्ल्यू, ब्रेथवेट का मत है कि ईश्वर या अनय अति प्राकृतिक सत्ता से सम्बन्धित धार्मिक कथन हमें किसी प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान न करके वस्तुतः हमारी विशेष अभिवृत्तियों अथवा भावनाओं को अभिव्यक्त और जागृत करते हैं। अतः इन्हें तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक कथन न मानकर भावनात्मक या संवेगात्मक कथन माना जा सकता है। जब धर्म परायण व्यक्ति इन धार्मिक कथनों का प्रयोग करते हैं तो हमें किसी वस्तु अथवा अलौकिक सत्ता के विषय में कोई तथ्यात्मक जानकारी नहीं मिलती है। अतः इसका अर्थ कि धार्मिक कथनों को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। अतः इनकी सत्यता के विषय में सार्थक वाद विवाद भी सम्भव नहीं है। अतः धार्मिक कथन संवेगात्मक वाक्यों की भांति न सत्य होते हैं और न ही मिथ्या। हमारे जीवन में इन कथनों का वही महत्व है जो संवेगात्मक वाक्यों, आदेशों प्रचारात्मक वाक्यों अथवा उपदेशों का होता है। इसका अभिप्राय है कि धार्मिक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक न होते हुए भी हमारे लिए निरर्थक तथा महत्वहीन नहीं है। इस प्रकार असंज्ञानवादी दार्शनिक मानव जीवन के लिए धार्मिक कथनों की प्रभावशीलता और महत्ता को स्वीकार करते हैं।

यहां एयर का मत है कि धार्मिक कथन मानवीय अनुभव द्वारा सत्यपनीय है अतः ये तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं। हां ये संवेगात्मक दृष्टि से कथन है। हेयर का मानना है कि धार्मिक ज्ञान तथ्यात्मक ज्ञान नहीं है। यह वास्तव में मनुष्य के ब्लिक की अभिव्यक्ति है। ब्लिक मनुष्य की एक निबौद्धिक मनोवृत्ति है। यह तथ्यो और तर्कों पर आधारित नहीं है किंतु इसका मनुष्य के विचारों एवं आचरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इन्हें सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध करने के लिए बौद्धिक तर्क नहीं दिये जा सकते। मैकफर्सन धार्मिक विषय को अवर्णनीय कहते हैं। एण्टोनी फ्ल्यू मानते हैं कि मिथ्यापनीयता न होने के कारण ये कथन निरर्थक है। उनके अनुसार – 'ऐसा क्या हो सकता है जिसे आप ईश्वर के अस्तित्व तथा प्रेम के विरुद्ध प्रमाण के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार होंगे। ब्रेथवेट के अनुसार नैतिक कथनों के समान ही धार्मिक कथन भी अच्छे जीवन के प्रति हमारी प्रतिबद्धता को व्यक्त करते हैं। जैसे जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि ईश्वर सबसे प्रेम करता है तो उसका यह कथन या ज्ञान किसी तथ्य को वर्णन न करके इसके इस आचरण को नीति के रूप में घोषित कर कहता

है मनुष्यों को सभी—व्यक्तियों से प्रेम करना चाहिए। स्पष्ट है कि यह सिद्धांत एक तरह से धार्मिक ज्ञान की तथ्यात्मक संभावना का निषेध करता है, इस सिद्धांत के प्रस्थापकों एवं समर्थकों का मत है कि धार्मिक ज्ञान हमें किसी प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान प्रदान नहीं करता है। यह वस्तुतः हमारी कुछ अभिवृत्तियों अथवा भावनाओं को अभिव्यक्त एवं जागृत करते हैं।

17.4 सादृश्यतावाद

एक्विनास के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व एवं स्वरूप से संबंधित ज्ञान आस्था पर केन्द्रित हैं। चूंकि यह अनिश्चित एवं अस्पष्ट है। धार्मिक शक्तियों का प्रयोग जब कोई व्यक्ति करता है तो यह एकार्थक ढंग से होता है। इसका प्रयोग साम्यानुमान द्वारा सम्भव है।

व्यावहारिक जीवन में सामान्य भाषिक प्रयोग के अन्तर्गत शब्दों को मूलतः दो तरीकों से प्रयोग किया जाता है प्रथम एकार्थक एवं द्वितीय अनेकार्थक जब किसी शब्द का एक ही अर्थ में प्रयोग होता है तब उसे एकार्थक कहते हैं। जैसे CAT का अर्थ बिल्ली होता है। पुनः इसी शब्द का अर्थ दो अलग एवं पूर्णतः असम्बद्ध अर्थ में प्रयुक्त होता है तो उसे अनेकार्थक कहते हैं। जैसे BAT के दो अर्थ बल्ला एवं चमगादड़ होते हैं।

उपर्युक्त दोनों प्रयोगों से धार्मिक शब्द भिन्न होता है तथापि उनका प्रयोग साम्यानुमान द्वारा होता है। जैसे ईश्वर को करुणामय कहा जाता है तथा व्यवहार में मानव को भी करुणामय कहते हैं। किन्तु यह शब्द जिन स्थितियों के लिए अर्थात् ईश्वर एवं मनुष्य के लिए प्रयुक्त हो रहा है उसमें कुछ भिन्नताएं भी हैं। जिस तरह मनुष्य करुणामय है। ठीक उसी तरह ईश्वर नहीं है। यह प्रयोग एकार्थक ढंग से नहीं किया जा सकता। पुनः ऐसा भी नहीं है कि दोनों स्थितियां पूर्णतः भिन्न है। इसमें साम्यता भी होती है। जैसे करुणामय का प्रयोग जब ईश्वर के लिए किया जाता है तब यह मनुष्य के करुणा से पूर्णतः भिन्न नहीं है। ईश्वर को करुणामय माना जाता है। साथ ही मनुष्य में भी करुणा का स्वरूप मिलता है। अतः करुणामय गुण के सन्दर्भ में दोनों में समानता है। जिससे इसका प्रयोग अनेकार्थक ढंग से नहीं किया जा सकता।

इस चिन्तन को एक अन्य उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे वफादार शब्द का प्रयोग मनुष्य एवं कुत्ते दोनों के सन्दर्भ में होता है किन्तु इसका प्रयोग एकार्थक तथा अनेकार्थक दोनों तरीके से सम्भव नहीं है। आदमी तथा कुत्ते में अंतर है। अतः एकार्थक ढंग से वफादार शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। कुत्ते की अपेक्षा मनुष्य अधिक उत्तरदायी तथा श्रेष्ठ है।

पुनः वफादार शब्द का प्रयोग अनेकार्थक ढंग से भी नहीं हो सकता है क्योंकि इस गुण के सन्दर्भ में मनुष्य एवं कुत्ते में समानता भी विद्यमान है। अन्य जानवरों की अपेक्षा कुत्ते के व्यवहार में एक निष्ठा होती है जो कि वफादार मनुष्य में भी पायी जाती है। अतः वफादार शब्द का प्रयोग एक सादृश्य पर आधारित अनुमान या साम्यानुमान द्वारा किया जाता है।

उल्लेखनीय है कि मनुष्य व ईश्वर तथा मनुष्य व जानवर में साम्यानुमान में प्रयोग स्तर भिन्न-भिन्न होता है। प्रथम में साम्यानुमान ऊर्ध्वमुखी है जिससे मनुष्य अपनी अपूर्णताओं को ईश्वर के पूर्णता से व्याख्यायित करता है। द्वितीय में साम्यानुमान अधोमुखी है। जिसमें मनुष्य की अपेक्षा कुत्ते के गुणों को कमतर रूप में सादृश्य से जानते हैं। ईश्वर संबंधी प्रमाण में एक्विनास कहते हैं कि विश्व की सभी आकस्मिक या नश्वर वस्तुओं की व्याख्या अनिवार्य सत्ता ईश्वर द्वारा की जा सकती है। स्पष्टतः धार्मिक भाषा में ईश्वर के गुणों का वर्णन जिस साम्यानुमान द्वारा होता है, उसमें समानता के भीतर असमानता तथा असमानता के भीतर समानता है।

17.5 प्रतीकवाद

पाल तिलिक के अनुसार परमसत्ता अनुभवातीत एवं अज्ञेय है। अतः उसके सन्दर्भ में कुछ भी कहने के लिए उसे विभिन्न प्रतीकों की अनिवार्य सहायता लेनी होती है। जिसके माध्यम से मनुष्य से अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सकता है। यह प्रतीक उस परमसत्ता का ज्ञान नहीं करा सकते किन्तु परम सत्ता की ओर संकेत करके अप्रत्यक्ष रूप से आभास अवश्य करा देते हैं।

पाल तिलिक के अनुसार धार्मिक भाषा प्रतीकात्मक भाषा है तो तथ्यात्मक भाषा से भिन्न होती है। प्रतीक ही सशीम और असीम में सम्बन्ध स्थापित करते हैं। तिलिक के शब्दों में वह जो आदर्श है वह अदृश्य है। जो कि प्रतीकों में झलक जाता है। इस रूप में उसकी वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति हो जाती है। धार्मिक भाषा में प्रयुक्त प्रतीकों के स्वरूप की व्याख्या के लिए तिलिक ने प्रतीकों के सामान्य लक्षणों का विवेचन किया है।

प्रतीक अपने से पृथक् किसी अन्य वस्तु की ओर संकेत करते हैं। अथवा उसका प्रतिनिधित्व करते हैं ये जिन वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं उनमें सहभागी भी होते हैं। वह स्वयं को इंगित नहीं करते बल्कि उसके सादृश्य से अन्य सत्ता की जानकारी मिलती है। प्रतीक वहीं आवश्यक माने जाते हैं जहां किसी ऐसी सत्ता की सूचना मिलती है जिसे शब्दों में पूरी तरह से संप्रेषित नहीं किया जा सकता।

सामान्य प्रतीकों से भिन्न धार्मिक प्रतीक होते हैं। तिलिक के अनुसार सामान्य प्रतीक जिस सत्ता की ओर संकेत करते हैं उन्हें प्रतीकों की सहायता के बिना भी जाना जा सकता है किन्तु धार्मिक प्रतीक जिस परमसत्ता की ओर संकेत करते हैं उन्हें प्रतीकों की सत्ता नहीं समझा जा सकता क्योंकि यह सत्ता अनुभवातीत है। धार्मिक प्रतीकों का स्वरूप व्यापक है जिसके अन्तर्गत ईश्वर, धर्मगुरु, धर्मग्रन्थ आदि सभी आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष कर्मकाण्डों तथा मृत वस्तुओं को भी धार्मिक प्रतीक माना जाता है। यहां तक कि धर्मपरायण व्यक्ति जिस ईश्वर की उपासना करते हैं उसे भी तिलिक प्रतीक मानते हैं। उनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म तक पहुंचने के लिए सगुण ईश्वर की उपासना प्रतीकात्मक है। मोक्ष के क्रम में ईश्वरोपासना अनावश्यक हो जाती है।

तिलिक के अनुसार ईश्वर शब्द के दो अर्थ होते हैं। प्रथम निर्गुण निराकार सत्ता जो अज्ञेय है तथा द्वितीय सगुण एवं साकार ईश्वर जो भक्तों के उपासना का विषय है। प्रथम अर्थ में प्रतीक के रूप में न होकर ईश्वर परमसत्ता है। किन्तु दूसरे अर्थ में वह धार्मिक प्रतीक मात्र है। धर्मपरायण व्यक्ति प्रायः दूसरे अर्थ में प्रायः दूसरे शब्द का प्रयोग करता है जो कि निर्गुण निराकार निरातीत सत्ता की ओर संकेत करता है।

स्पष्टतः ईश्वर के गुण सम्बन्धित सभी कथन प्रतीकात्मक है अर्थात् अर्द्धसंज्ञानात्मक है। क्योंकि प्रतीक ईश्वर का अर्द्धज्ञान ही देते हैं। ईश्वर शुद्ध सत् है कथन ही एकमात्र अप्रतीकात्मक है। तथा इसके अतिरिक्त धर्म विषयक सभी कथन अप्रतीकात्मक होते हैं।

17.6 निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धार्मिक ज्ञान सामान्यतः ज्ञान के वास्तविक स्वरूप से भिन्न है, वस्तुतः यह ज्ञान अति प्राकृतिक एवं अतीन्द्रिय सत्ताओं से संबंधित होने के कारण हमारी तर्क बुद्धि अथवा इन्द्रियानुभव से परे है। मानवीय ज्ञान की यह सीमा है कि मनुष्य अपनी तर्क बुद्धि यहां तक कि व्यापक अर्थ में इन्द्रियानुभव के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से इस अलौकिक सत्ता के प्रति अपने ज्ञान को स्वीकार करने के लिए बाध्य है कि धार्मिक ज्ञान हो स्मृति या रहस्य के आधार पर ही व्याख्यायित किया जा सकता है तथापि विटगेंस्टाइन का कथन महत्वपूर्ण है कि “धार्मिक कथनों को तथ्यपरक कथन मानकर उसके स्वरूप की परीक्षा करना व्यर्थ है। धार्मिक कथनों की सार्थकता धार्मिक जीवन पद्धति के अन्तर्गत ही तय की जानी चाहिए।”

इकाई-18 धर्म निरपेक्षता

- 18.1 उद्देश्य
 - 18.2 प्रस्तावना
 - 18.3 अर्थ एवं परिभाषाएं
 - 18.4 डा० राधाकृष्णन का दृष्टिकोण
 - 18.5 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
 - 18.6 धर्मनिरपेक्षतावाद या इहलौकिकतावाद
 - 18.7 भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद
 - 18.8 भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता
 - 18.9 सारांश
 - 18.10 बोध – प्रश्न
 - 18.11 उपयोगी पुस्तकें
-

18.1 उद्देश्य

प्रस्तुत 'इकाई धर्म निरपेक्षतावाद' के बारे में विवेचन प्रस्तुत करती है। इसके अतिरिक्त इस इकाई में यही प्रयास रहा है कि कुछ तर्कों अथवा तथ्यों के आधार पर धर्म-निरपेक्षतावाद से सम्बन्धित कुछ प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए इस सिद्धांत के वास्तविक अर्थ तथा स्वरूप को स्पष्ट करना तथा धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन करना है। धर्मनिरपेक्षतावाद के स्वरूप तथा इस सिद्धांत के उदय तथा विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन करने के पश्चात् परिशिष्ट के अन्त में इस प्रश्न पर भी विचार किया जायेगा कि भारत वास्तव में धर्मनिरपेक्ष है या नहीं।

18.2 प्रस्तावना

समकालीन धर्म राजनीति तथा समाज में धर्म निरपेक्ष शब्द बहुचर्चित एवं सर्वाधिक प्रचलित शब्द है। प्रायः लोग इस शब्द के वास्तविक अर्थ को बिना समझे ही इसका प्रयोग करते हैं। कभी-कभी धर्म निरपेक्षता का अर्थ— धर्म की उपेक्षा, धर्म का खण्डन, धर्म का उन्मूलन धर्म की अवहेलना आदि से किया जाता है। राजनीति में प्रायः धर्मनिरपेक्ष शब्द सम्प्रदायवाद के विपरीत अर्थ में लिया जाता है। प्रायः राजनीतिज्ञ दो खेमों में घंट जाते हैं Secular and Communal धर्म निरपेक्ष व साम्प्रदायिक। ये सभी अर्थ उचित नहीं हैं। इसलिए आवश्यक है कि इस शब्द के वास्तविक अर्थ को समझने का प्रयास किया जाय।

18.3 अर्थ एवं परिभाषाएं

Encyclopedia of Religion and Ethics से धर्मनिरपेक्षता को निम्न प्रकार परिभाषित किया गया— धर्मनिरपेक्षतावाद राजनीतिक तथा दार्शनिक प्राथमिकता से युक्त ऐसी विचारधारा है, जो उद्देश्य पूर्ण रूप से नैतिक किन्तु धार्मिक रूप से निषेधात्मक है। "Encyclopedia Britannica" गैर आध्यात्मिक धर्म अथवा आध्यात्मिक विषयों से किसी प्रकार का सम्बन्ध न होना, वह जो धर्म से भिन्न हो, उसके विरुद्ध अथवा उससे सम्बन्धित न हो तथा आध्यात्मिक तथा धार्मिक वस्तुओं के विपरीत सांसारिक हो”

18.4 डा० राधाकृष्णन का दृष्टिकोण

डा० एस राधा कृष्णन भारतीय धर्म निरपेक्षता के आधिकारिक प्रवक्ता माने जाते हैं। उनके अनुसार सभी धर्मों के प्रति समभाव रखना ही धर्म निरपेक्षता है। यही भारतीय धर्म निरपेक्षता की सही व्याख्या है। इससे न तो

धर्म का विरोध होता है न ही उपेक्षा न ही उसे अप्रासंगिक माना जाता है। उसमें राज्य का संचालन किसी धर्म के निर्देशानुसार नहीं होता। राज्य सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करता है। साम्प्रदायिक भेदभाव रहित तटस्थ एवं निष्पक्ष प्रशासनिक दृष्टिकोण भारतीय सन्दर्भ में धर्म निरपेक्षता कहा जा सकता है।

जब भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य कहा जाता है तब इसका यह अर्थ नहीं है कि यह धर्म की प्रासंगिकता को अस्वीकार करता है अथवा आधार्मिकता को प्रश्रय देता है। धर्मनिरपेक्षता के द्वारा यह ध्वनित होता है कि भारतीय राज्य किसी धर्म विशेष द्वारा शासित नहीं होगा उस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता एवं तटस्थता का दूसरा नाम धर्म निरपेक्षता वाद भी होगा। 'The National Culture of India*' की प्रस्तावना में डा० आबिद हुसैन ने स्पष्ट किया है कि धर्म निरपेक्षतावाद का अर्थ अधार्मिकता या अनिश्चरवाद का भौतिक सुखों पर बहुत बल देना नहीं है यह आध्यात्मिक मूल्यों की सार्वभौमिकता पर बल देता है, जिन्हें विभिन्न उपायों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

उपर्युक्त मतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्म निरपेक्षतावाद धर्म का प्रतिवाद या खण्डन न ही करता न ही धर्म की अवहेलना या उपेक्षा करता है। यह मूलतः मानवतावादी अवधारणा है जो धर्म के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण अपनाता है। धर्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए धर्म निरपेक्षतावाद का उद्देश्य धार्मिक अन्धता, रूढ़िवाद अन्धविश्वास, कट्टरतावाद, सम्प्रदायवाद, तथा धार्मिक शोषण का उन्मूलन करना है।

18.5 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

धर्मनिरपेक्षता वाद की नींव पंद्रहवीं सदी में ही पड़ गयी थी जबकि। पुनर्जागरण काल में आस्था तथा विश्वास की अपेक्षा तर्कबुद्धि को प्राथमिकता दी जाने लगी। पुनर्जागरण काल से पूर्व सम्पूर्ण यूरोप पर धर्म का वर्चस्व था तथा जन-जीवन का नियमन, संचालन तथा निर्देशन ईसाई धर्म की मान्यताओं के अनुरूप होता था। इस युग में न केवल स्वतन्त्र चिन्तन तथा तर्क को समुचित स्थान न था बल्कि व्यक्ति की गरिमा, विचारों की स्वतन्त्रता समानता आदि आदर्शों एवं मूल्यों को समुचित स्थान नहीं प्राप्त था। सोलहवीं सदी आते आते इन विचारों के विरोध में सुधारवादी युग का प्रतिपादन होने लगा तथा कुछ विचारक विभिन्न अन्धविश्वासों, कट्टरवादिता आदि के खिलाफ आवाज उठाये फलस्वरूप धीरे धीरे धार्मिक उदारता की विचारधारा पल्लवित तथा पुष्पित हुई इस प्रकार पुनर्जागरणकाल तथा सुधारवादी युग में धर्म निरपेक्षता के अभ्युदय के लिए ठोस आधारभूमि तैयार की।

सुधारवादी आन्दोलन के प्रमुख प्रणेता मार्टिन लूथर किंग ने उदारवादी चिन्तन तथा मानवतावादी दृष्टि को विकसित करने का प्रयास किया। धर्म सापेक्षतावाद के विरुद्ध चुनौती प्रस्तुत करने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका आधुनिक युग के महान राजनीतिक दार्शनिक मैकियावेली ने राजसत्ता को धर्मसत्ता से पृथक करके निभाई। इसी क्रम में औद्योगिक क्रांति, मार्क्सवाद, मानवतावाद तथा डार्विन के विकासवाद ने भी धर्म के वर्चस्व को समाप्त करने वैज्ञानिक तथा मानवीय वृत्तियों के प्रचार के साथ धर्मनिरपेक्षता की दिशा में आगे कदम बढ़ाया। यूरोप के अलावा मानवतावाद तथा धर्म निरपेक्षतावाद का प्रभाव धीरे-धीरे ब्रिटेन पर भी पड़ा तथा अनेक विचारकों में इस दिशा में आगे काम किये जैसे— जेम्स, जान स्टुअर्ट मिल, बेन्थम, जी. एच. लेविस आदि उपयोगितावादियों तथा सुधारवादियों ने धर्म निरपेक्षतावाद के प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

उपर्युक्त विचारों तथा विचारकों से प्रेरित होकर इंग्लैंड निवासी जार्ज जैकब हालियोक ने सन 1851 में इस विचारधारा को। 'धर्मनिरपेक्षतावाद' का नाम दिया। भौतिकवादी, प्रकृतिवादी, एवं इहलौकिकवादी नैतिक अवधारणा को अनिश्चरवाद से पृथक करने के लिए वे धर्म निरपेक्षतावाद का विकास करना चाहते थे। चार्ल्स ब्रैडलाफ ने धर्मनिरपेक्षता की विशेषताओं का और स्पष्टीकरण किया। हालियोक धर्म के विरोध एवं खण्डन को महत्व देने के बजाय धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण के प्रतिपादन में रुचि रखते थे वही ब्रैडसाज धर्म के खण्डन को इसका प्रमुख आधार बनाया।

धर्मनिरपेक्षतावाद की एक विशिष्टता यह बताई जाती है कि यह समस्त अलौकिक, अतीन्द्रिय, अति प्राकृतिक या पारलौकिक शक्तियों अथवा सत्ताओं का निषेध करते हुए केवल इहलौकिकता या सांसारिकता में विश्वास करता है। धर्मनिरपेक्षतावाद की आधारभूत मान्यता है— "इसी संसार तथा मनुष्य के वर्तमान जीवन के विषय में ही विचार करो। दैवी शक्तियों तथा परलोक के सम्बन्ध में नहीं।" इस सिद्धांत के समर्थकों की धारणा है कि विज्ञान की सहायता से तथा अनुभव तथा तर्कबुद्धि के सहारे मानवता का कल्याण हमारा प्रमुख कर्तव्य है

तथा प्राकृतिक नियमों तथा वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग के द्वारा ही मानव प्रगति, भौतिक सुख-सम्पत्ति तथा तकनीकी प्रगति हासिल करनी चाहिए।

इस प्रकार कहा जाता है कि धर्मनिरपेक्षतावाद एक विशेष प्रकार की मानवतावादी जीवन दर्शन है जो धर्म तथा आध्यात्मवाद का निषेध करते हुए नैतिकता, शिक्षा, राजनीति, प्रशासन, कानून आदि को इन दोनों से पूर्णतः स्वतन्त्र मानता है और जो मनुष्य को अलौकिक या दैवी शक्तियों पर आश्रित रहने के स्थान पर पूर्णतः आत्म निर्भर बनने की प्रेरणा देकर उसके वैयक्तिकता एवं सामाजिक कल्याण के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। धर्म निरपेक्षता की अवधारणा में सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों पक्ष पाये जाते हैं किन्तु मूलतः यह नकारात्मक प्रवृत्ति की घोटक है। लौकिकता के सन्दर्भ में धर्म की असफलता का बोध इसका मुख्य प्रेरक है। धर्म के प्रति एक इस नकारात्मक दृष्टिकोण को धर्म निरपेक्षता का केन्द्र-बिन्दु माना जा सकता है। सकारात्मक पक्ष में धर्मनिरपेक्षता इहलौकिकता तथा वैधानिकता की पोषक है तथा धार्मिकता से मुक्त प्रकृतिवादी, प्रत्यक्षवादी एवं उपयोगितावादी अभिरुचियों का समर्थन करती है।

18.6 धर्मनिरपेक्षतावाद या इहलौकिकता वाद (Secularism or this Worldliness)

धर्मनिरपेक्षतावाद को कभी कभी इहलौकिकतावाद के अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है। इहलौकिकतावाद को धर्मनिरपेक्षकरण को प्रक्रिया (Process of Secularisation) का परिणाम माना जाता है। प्रो० पिल्लै ने लिखा है दोनों सिद्धान्तों में निकटता का सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। प्रत्यक्षवाद तथा इहलौकिकतावाद में एक ही सिद्धान्त एवं प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई है। दोनों सिद्धान्तों को ही समष्टि के एक अंगों की तरह परस्पर सम्बन्धित कहे जा सकते हैं। इहलौकिक दृष्टि वस्तुतः विज्ञान की देन है क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने ही हमें धार्मिक चमत्कारों में विश्वास, अन्धविश्वास तथा रुढ़िवाद से मुक्ति दिलाया है। इसमें बुद्धिवाद तथा आधुनिकतावाद का समर्थन किया गया है तथा उन्हीं मूल्यों के प्रतिपादन पर बल दिया गया है जो बुद्धि पर आधारित हैं। इस प्रकार इहलौकिकतावाद निम्न विचारों पर आधारित है।

1. सांसारिकता को प्रश्रय देना (Be worldly)
2. मानव के सम्बन्ध में चिन्तन करना (Think about man)
3. वैज्ञानिक एवं बौद्धिक दृष्टिकोणों को प्राथमिकता देना।

18.7 भारतीय धर्म निरपेक्षतावाद

भारत में धर्मनिरपेक्षता की परम्परा प्राचीन काल से प्रचलित है। वैदिक मान्यता 'एकं सद्बिप्रा बहुधा वदन्ति' से धर्म-निरपेक्षता की अवधारणा को समर्थन मिला है। बौद्ध एवं जैन परम्पराओं में भी यह धारणा स्वीकार की गयी है। धर्म सम्प्रदाय की अपेक्षा कर्तव्य का घोटक है। इस दृष्टि से धर्म निरपेक्षता का धर्म से विरोध नहीं व्यक्ति धर्मनिरपेक्ष होते हुए भी अपने धर्म का पालन कर सकता है। धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में धर्म का निषेध न होकर सभी धर्मों के प्रति समभाव अपनाया जाता है। महात्मा गाँधी के अनुसार राष्ट्रीय एकता एवं सामंजस्य के लिए धर्म निरपेक्षता आवश्यक है। इसी के आधार पर धर्म तथा राजनीति की समस्या का समुचित हल संभव है। गांधी की धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा पाश्चात्य विचारधारा से भिन्न है। गाँधी राज्य तथा धर्म को अपृथक् मानते हैं धर्मविहीन राज्य में दुराचार तथा भ्रष्टाचार पनपने लगते हैं। धर्म निरपेक्षता को सशक्त बनाने के लिए राज्य प्रशासन में धर्म का प्रभाव उपयोगी सिद्ध होता है। इससे न्याय सदाचार एवं शान्ति की स्थापना होती है।

गांधी के मत में धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर सद्भाव, मैत्री तथा सामंजस्य स्थापित करना ही धर्म निरपेक्षता हो- है। - यही गांधी के अनुसार धर्म निरपेक्षता का मूल लक्षण है। इसी दृष्टि से वे धर्म-निरपेक्षता के लिए सर्व धर्म समभाव शब्द का प्रयोग करते थे। व्यावहारिक एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए वे अपने सभी महत्वपूर्ण कार्यक्रमों का प्रारम्भ धार्मिक प्रार्थना से करते थे। धर्म तथा राजनीति के मिश्रण द्वारा वे करोड़ों भारतीयों को जागरूक बनाने में सफल हुए। परम्परागत धार्मिक प्रतीकों के माध्यम से उन्होंने सोई हुई जनता में चेतना की लहर फैलाई। शायद गांधी के इस महान योगदान को ध्यान में रखकर जवाहरलाल नेहरू ने कहा था- यद्यपि मुझे गाँधी के 'पाप तथा मुक्ति' को भाव पसन्द नहीं है किन्तु मुझे यह भी ज्ञान है कि जनता की

महान शक्ति को कैसे जगाया जा सकता है। उसे गांधी अच्छी तरह जानते थे।

आधुनिक धर्म निरपेक्षतावादी सामाजिक, आर्थिक, तथा राजनैतिक समस्याओं को धर्म से अलग करके देखते हैं किन्तु गांधी के अनुसार यह एकांगी दृष्टिकोण है। गांधीजी को विश्वास था कि धार्मिकता व सांसारिकता एक दूसरे से अलग नहीं है। आध्यात्मिकता एवं नैतिक मूल्यों से रहित आर्थिक समृद्धि का कोई महत्व नहीं। प्राचीन काल से सभी भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाएं धर्म तथा आध्यात्मिकता से जुड़ी रहती हैं। सभी भारतीय ऋषियों, मनीषियों ने धर्म तथा समाज को एक साथ रखा। गांधी, विनोबाभावे से लेकर आज अन्नाहजारे भारत में धर्म के सामाजिक महत्व पर बल देते हैं।

18.8 भारतीय संविधान में धर्म निरपेक्षता

भारतीय संविधान व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों रूप में किसी भी धर्म को स्वीकार करने की स्वतन्त्रता देता है। भारतीय संविधान के 42 वें संशोधन (1976) में 'धर्मनिरपेक्षता' शब्द प्रस्तावना में जोड़ा गया। संविधान की प्रस्तावना के अतिरिक्त संविधान के अन्य अनुच्छेद भी धर्मनिरपेक्षता की भावना का अभिव्यक्तिकरण करते हैं।

अनु० 15 तथा अनु०16 धार्मिक भेदभाव के उन्मूलन पर बल देता है। अनु०25 में प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का पालन करने की स्वतन्त्रता दी गयी है। अनु०-27 में धार्मिक विषयों में व्यक्तिगत सहमति को महत्व दिया गया है। अनु० 23 में राज्य द्वारा संचालित विद्यालयों में अनिवार्य धार्मिक शिक्षा देने का निषेध है। उसके अतिरिक्त अनुच्छेद 325, 350 तथा 352 में धर्म के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों को बांटने का निषेध किया गया है।

उपर्युक्त विवेचनाओं के अतिरिक्त भी भारत के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठाया जाता है कि क्या भारत धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर सैद्धान्तिक रूप से महत्वहीन होगा क्योंकि जैसा कि उपर उल्लिखित है भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया है। भारतीय धर्मनिरपेक्षता का मूल्यांकन करते समय हमें यह भी देखना होगा कि हजारों वर्षों से हमारे देश को आध्यात्मिक तथा धार्मिक क्षेत्र में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इसमें प्राचीन काल से ही विभिन्न प्रकार के धर्म तथा संस्कृतियों ने न केवल जन्म लिया बल्कि पल्लवित एवं पोषित होती रही साथ ही आज भी भारत उन्ही विभिन्नताओं के सत्य विद्यमान है।

इसके साथ ही धर्म के निषेधात्मक अर्थ का परित्याग करते हुए यदि हम धर्म को सकारात्मक तथा भावात्मक अर्थों में प्रयुक्त करें तो धर्म (हिन्दूधर्म) स्वयं धर्म निरपेक्षता की धारणा को सबलता प्रदान करता है। धर्म हमें पारस्परिक प्रेम, एकल भाव, समर्पण, त्याग, बन्धुत्व सहिता तथा सौहार्द की भावना उत्पन्न करने में प्रेरणा स्रोत बन सकता है। अतः यदि भारतीय धर्मनिरपेक्षतावाद में व्याप्त कुछ विसंगतियों, विरोधाभासों तथा कमियों का निराकरण कर दिया जाय तो यह उदारवादी, समन्वयवादी, सहिष्णुतावादी, मानवतावादी रूप में विश्व के अन्य धर्मनिरपेक्षता राज्य में अपना विशिष्ट स्थान रख सकता है।

18.9 सारांश

यह कहा जा सकता है कि धर्म- निरपेक्षता के पालन में यद्यपि कुछ कठिनाइयाँ व्याप्त हैं फिर भी यह मानव कल्याण तथा प्रगति का उत्तम साधन है। धार्मिक समुदायों में यह सह अस्तित्व के लिए सर्वोपयोगी है। अनुभव से यह सिद्ध होता है कि जिस राज्य में धर्म- निरपेक्षता का प्रचलन है वहाँ सामाजिक सन्तुलन तथा एकता का विकास होता है। हमारे कुछ पड़ोसी देशों में धर्मनिरपेक्षता की भावना के अभाव के फलस्वरूप आज जो सामाजिक हिंसा-कलह तथा अशान्ति दिखायी पड़ रही है। वह विश्व शान्ति के लिए संकेत बनती जा रही है। यदि धर्म-निरपेक्षता का प्रसार न किया जायेगा तो मानवता अंधकार युग से न केवल कभी निकल पायेगी बल्कि अपनी उत्तरोत्तर वृद्धि में गिरती जायेगी। इसी के फल स्वरूप ही स्वतन्त्र बौद्धिक एवं वैज्ञानिक चिन्तन को बढ़ावा मिला है तथा रुढ़िवादी एवं संकीर्णतावादी प्रवृत्तियों का ह्रास हुआ है।

18.10 बोध प्रश्न

1. धर्मनिरपेक्षतावाद से आप क्या समझते हैं?
2. क्या भारत एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है ? विवेचना कीजिए।

18.11 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्म दर्शन— डॉ. याकूब मसीह ।
2. धर्म दर्शन की मूल समस्याएं— डॉ. वेद प्रकाश वर्मा ।
3. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन— डॉ. शिव भानु सिंह ।

इकाई-19 ईश्वर विहीन धर्म

- 19.0 उद्देश्य
- 19.1 प्रस्तावना
- 19.2 क्या ईश्वर रहित धर्म संभव है ?
- 19.3 बौद्ध-धर्म के विचार
- 19.4 जैन दर्शन के विचार
- 19.5 मानवतावादी धर्म के विचार
- 19.6 समीक्षा
- 19.7 सारांश
- 19.8 बोध –प्रश्न
- 19.9 उपयोगी पुस्तकें

19.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में हम विभिन्न धर्म की समझ के आधार पर आगे बढ़ते हुए ईश्वर विहीन धर्म की संभावनाओं का परीक्षण करेंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि क्या वास्तव में समाज में ईश्वर विहीन धर्म स्थापित हो सकता है? वह किस सीमा तक सफल हो सकता है? और ईश्वर विहीन धर्म की किस प्रकार से हमारे समाज में उपयोगिता है ? क्या ईश्वर विहीन धर्म एक प्रचलित धर्म के रूप में स्थापित हो सकता है? क्या वर्तमान में कुछ ईश्वर विहीन धर्म वास्तव में प्रचलित हैं? ईश्वर विहीन धर्म की प्रकृति क्या है? इन धर्मों की कमियां क्या हैं? या क्या ईश्वर विभिन्न धर्म अन्य प्रचलित धर्म की अपेक्षा अधिक सुसंगत है? नैतिक है? अथवा नैतिकता को प्रश्रय देने वाला धर्म है?

19.1 प्रस्तावना

प्रायः यह विश्वास किया जाता है कि ईश्वर धर्म का केन्द्र बिन्दु है तथा धर्म मूलस्वरूप में मानव की ईश्वर के प्रति प्रतिक्रिया है। प्रो० क्विण्ट की दृष्टि में ईश्वरवाद धर्म का पर्याय है। इसी प्रकार गैलवे के अनुसार धर्म मनुष्य से परे एक शक्ति में विश्वास है जहाँ वह अपनी रागात्मक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करता है, जिसे वह पूजा तथा सेवा के कार्यों में अभिव्यक्ति करता है। इसी प्रकार जेम्स मार्टिन्स के अनुसार धर्म एक चिरंतन ईश्वर में विश्वास तथा उसकी आराधना है। यह वह अतिमानस तथा दैवी संकल्प है जो अखिल ब्रह्माण्ड पर शासन करता है तथा मानवता को नैतिक सूत्रों में अनुबद्ध करता है।

उपरोक्त धर्म दार्शनिकों के मत से यह धारणा, पुष्ट होती है कि धर्म में ईश्वर का विशिष्ट स्थान है। विशेष उपासना स्थल पवित्र उग्रन्थ, प्रार्थना अथवा पूजा पाठ सम्बन्धी कर्मकाण्ड तथा धार्मिक अनुष्ठान धर्म के महत्वपूर्ण अंग हैं। धर्म में मानव ईश्वर का ज्ञान रखता है। ईश्वर के प्रति मनुष्य निर्भरता, श्रद्धा, प्रेम, आत्मसमर्पण आदि की भावनाओं का प्रकाशन करता है। धर्म में मनुष्य धर्माचरण के द्वारा ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। धर्म के ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक पहलू किसी न किसी एक में ईश्वर की अपेक्षा करते हैं। ईश्वर के अभाव में मनुष्य की धार्मिक भावनाएं क्रियाएं तथा क्रियात्मक पहलुओं की प्रामाणिकता ही नष्ट हो जाती है।

19.2 क्या ईश्वर रहित धर्म संभव है ?

धर्म में ईश्वर की मान्यता की अनिवार्यता के प्रश्न पर विचारकों में काफी मतभेद पाया जाता है। क्या ईश्वर रहित धर्म संभव है? ईश्वर में विश्वास धर्म के लिए कितना आवश्यक है? धर्म में ईश्वर सम्बन्धी मान्यता क्यों अनिवार्य है? ऐसे प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए हमें ते बिन्दुओं पर विचार करना होगा।

एक तो धर्म के इतिहास पर दृष्टि डालनी होगी तथा दूसरे धर्म के स्वरूप का विवेचन करना होगा। सर्व प्रथम यह विचार करना होगा कि प्राचीन काल से अब तक विश्व में जो धर्म प्रचलित रहे हैं उनमें ईश्वर का स्थान क्या रहा है। क्या कुछ ऐसे धर्म पाये जाते हैं, जिनमें ईश्वर की मान्यता का अभाव है ? दूसरे बिन्दु में हमें धर्म के स्वरूप में निहित उन तत्वों का पता लगाना होगा जो धर्म को अनिवार्यता ईश्वर में विश्वास को ओर जाते हैं क्या धर्म का स्वरूप कुछ ऐसा है कि वह ईश्वर में विश्वास के बिना जीवित नहीं रह सकता ?

मानव इतिहास पर दृष्टिपात करने पर हमें धर्म और ईश्वर के सम्बन्ध के बारे में तीन प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। एक ओर पश्चिमी एशिया के पैगम्बरसादी धर्मों में प्रचलित ईश्वरवाद है तो उसके विपरीत सुदूर पूर्व के धर्मों में ईश्वर की मान्यता का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इन दोनों के मध्य में भारतीय परम्परा में ईश्वर का स्थान है किन्तु ईश्वरवाद नहीं। प्रथम परम्परा में ईश्वर प्रधान है। इसमें यहूदी, ईसाई, तथा इस्लाम धर्म सम्मिलित हैं। दूसरा दृष्टिकोण चीन, जपान तथा कोरिया की परम्परा में विकसित हुआ है, जहाँ ईश्वर का कोई महत्व नहीं है। भारतीय धर्मों में ईश्वर शब्द का प्रचलन होते हुए भी ईश्वरवादी मान्यता का अपेक्षाकृत अभाव पाया जाता है।

वस्तुतः धर्म में ईश्वर का महत्व की विवेचना इस बार पर निर्भर है कि हम ईश्वर शब्द का प्रयोग किस अर्थ में करते हैं। यदि हम ईश्वर की पैगम्बरवादी अवधारणा स्वीकार करते हैं तथा ईश्वर को संहारकर्ता, सृष्टिकर्ता पालनकर्ता के रूप में मानते हैं, तो ऐसा ईश्वर धर्म के लिए अनिवार्य नहीं। विश्व में ऐसे कई धर्म हैं। जिनमें ऐसे ईश्वर की मान्यता नहीं पायी जाती। सुदूर पूर्व की कई संस्कृतियों में ईश्वर शब्द का ही प्रचलन नहीं है। वाओ, कन्फ्यूसियन, तथा शिन्टो धर्म में ईश्वर को अवधारणा का सर्वथा अभाव है।

‘ईश्वर’ शब्द की परम्परागत अवधारणा का मुख्य स्रोत पैगम्बरवादी धार्मिक परम्परा है। एक व्यक्तित्वपूर्ण सर्वगुण सम्पन्न, विश्व विधाता ईश्वर की मान्यता बाइबिल के धर्मों में स्वीकार की गयी है। सर्वप्रथम हजरत अब्राहम को ऐसे ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हुआ जो बाद में एकेश्वरवादी धर्मों में विकसित हुआ। ऐसे ईश्वर की अवधारणा भारतीय धर्मों में पूर्णतया स्वीकार नहीं की गयी। बौद्ध-जैन जैसे धर्मों में कर्म की प्रधानता दी गयी है तथा वैदिक धर्मों में भी व्यक्तित्व सम्पन्न ईश्वर की अवधारणा स्पष्टता विकसित नहीं हुई।

अधिकांश भारतीय धर्मों में ईश्वर, जगत तथा जीव की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है, जो पैगम्बरवादी मान्यता से सर्वथा भिन्न है। वेदान्त में स्वीकृत सर्वेश्वरवाद ईश्वर को महत्वहीन बना देता है। अद्वैतपरक दृष्टिकोण में ईश्वर मायिक तथा मिथ्या प्रतीत होता है। वह केवल सापेक्ष सत्य है, निरपेक्ष नहीं। सांख्य एवं मीमांसा जैसे सम्प्रदायों में ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। योग में भी ईश्वर को मात्र साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। अन्य साधनों के समान ईश्वर की मान्यता भी योग सिद्धि में सहायक होती है।

इस प्रकार इतिहास के निरीक्षण करने पर हम पाते हैं कि विश्व में ऐसे कई धर्म हैं, जिनमें ईश्वर की मान्यता स्वीकार नहीं की गयी है। पैगम्बरवादी धर्मों को छोड़कर विश्व के अधिकांश धर्मों में तो ईश्वर को नगण्य मानते हैं, अथवा अपेक्षाकृत कम महत्व देते हैं। वस्तुतः एकमात्र ईश्वरवादी परम्परा का आधुनिक विकास भी परम्परागत ईश्वर के निषेध के रूप में हुआ है। आगस्त काम्टे के मतानुसार आधुनिक (ईसाई) मानव जगत तथा ईश्वर, विश्व विश्वातीत पृथ्वी स्वर्ग के , द्वन्द को पूर्णतया त्याग चुका है। आज वैज्ञानिक शोध के परिणामस्वरूप ईश्वर सम्बन्धी पुरानी मान्यताएं व्यर्थ तथा अनुपयोगी सिद्ध हो चुकी हैं— जब उस जगत तथा अलौकिक का विचार निरर्थक है, ब्रह्माण्ड की घटनाओं, ग्रहों तथा नक्षत्रों के बारे में भविष्यवाणी तथा उन-पर नियन्त्रण विज्ञान में संभव कर दिया है।

बाइबिल की ईश्वर वादी परम्परा में ईश्वर का निषेध कहीं-कहीं उग्ररूप धारण कर चुका है। एडाल्फ बुल्टमान ने स्पष्ट किया कि ईश्वर जैसे निरंकुश शासक की पैराणिक गाथा को त्याग कर एक ऐसी नयी पौराणिकता का विकास करना होगा जो शासक की मान्यता से रहित हो। विश्वातीत तथा वहाँ की अपेक्षा यहाँ विश्व के सन्दर्भ में उसकी व्याख्या होनी चाहिए। यदि उस पार' का ज्ञान 'इसपार' के द्वारा नहीं हो सकता, यदि विश्वातीत' की कल्पना ही निराधार है। दैवी प्रकाशना अथवा श्रुति के द्वारा भी यह ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता। यास्पर्स के अनुसार उसपार अथवा विश्वातीत सम्बन्धी मिथक वस्तुतः एक निराधार एवं अनधिकृत चेष्टा है। दित्य चक्षु तीसरा नेत्र (x-ray vision) तथा अन्तः प्रज्ञा जैसी अतीन्द्रिय दृष्टि होने का दावा भी विवादास्पद है। वास्तव में ईश्वर का ज्ञान असंभव है न तो इसका कोई लौकिक अर्थ है न सन्दर्भ, न अनुभव व संकेत होता है।

अगर भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में बात की जाय तो भारतीय दर्शन में अनेक धर्म ऐसे प्राप्त होते हैं, जिनमें ईश्वर का अभाव है। इन धर्मों में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है, अपितु ईश्वर का खण्डन किया गया है। इसलिए ऐसा सोचना अनुचित एवं असंगत है कि ईश्वर के बिना धर्म संभव नहीं है। ईश्वर विहीन धर्मों में मुख्यता बौद्ध-धर्म, जैन धर्म, मानवतावादी धर्म आदि सम्मिलित हैं। इन्हे 'अनीईश्वरवादी धर्म' भी कहा जाता है।

19.3 बौद्ध-धर्म के विचार

बौद्ध धर्म विश्व के प्रचलित धर्मों में महत्वपूर्ण स्थान रखता है परन्तु यह ईश्वर की सत्ता का निषेध करता है। भगवान बुद्ध ने अनित्यवाद या क्षणभंगवाद का प्रणयन करते हुए अपरिवर्तनशील, नित्य तथा शाश्वत ईश्वर को अनित्य एवं परिवर्तनशील विश्व का रचयिता मानने से इन्कार किया है। यदि नित्य ईश्वर विश्व का सृष्टा या निर्माता है तो विश्व में परिवर्तन एवं विनाश का अभाव होना चाहिए। ऐसी अवस्था में विश्व में भी नित्य शाश्वत, अपरिवर्तनशील तथा अपरिणामी होना चाहिए व्यवहार में हम देखते हैं कि विश्व आप परिवर्तनशील है विश्व की ओर देखने से हमें विश्व को शुभ अशुभ, सुख-दुख के अधीन पाते हैं। ईश्वर को पूर्ण तथा शुभ भी नहीं माना जा सकता क्योंकि शुभ ईश्वर को विश्व में व्याप्त अशुभ का रचयिता नहीं माना जा सकता है।

19.4 जैन दर्शन के विचार

बौद्ध दर्शन की तरह जैन दर्शन भी ईश्वर विहीन धर्म माना जाता है। साधारणतया ईश्वर को जगत का सृष्टा माना जाता है। यदि ईश्वर जगत का सृष्टा है तो प्रश्न उठता है कि किस प्रयोजन से विश्व का निर्माण करता है। सामान्य तथा चेतन प्राणी जो भी कर्म करता है, वह स्वार्थ से प्रेरित होकर करता है या दूसरों पर करुणा प्रदर्शित करने के लिए करता है। अतः चेतन ईश्वर को भी स्वार्थ तथा करुणा से प्रेरित होना चाहिए। ईश्वर स्वार्थ से प्रेरित होकर सृष्टि नहीं कर सकता क्योंकि वह पूर्ण है। उसका स्वार्थ नहीं है। इसके विपरीत यह भी नहीं माना जा सकता क्योंकि करुणा से प्रभावित होकर ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया, है क्योंकि सृष्टि के पूर्व करुणा का भाव उदय हो ही नहीं सकता। करुणा का अर्थ है दूसरों के दुख दूर करने की इच्छा। परन्तु सृष्टि के पूर्व दुःख की विद्यमानता को मानना अनुपयुक्त तथा असंगत है। इस प्रकार जैन धर्म विभिन्न युक्तियों से ईश्वर की सत्ता का खण्डन करता है। जैन धर्म में ईश्वर के अस्तित्व के समर्थन में नैयायिकों द्वारा प्रदत्त युक्तियों का खण्डन भी प्राप्त होता है। प्रत्येक कार्य के लिए कर्ता की अपेक्षा की जाती है।

उदाहरणार्थ गृह एक कार्य है, जिसे कर्ता ने बनाया है उसी प्रकार विश्व एक कार्य है, जिसके स्रष्टा का होना आवश्यक है वह ईश्वर है। ऐसा नैयायिकों का मत है। जैन धर्म इस युक्ति को दोषपूर्ण मानता है। क्योंकि इसमें पहले से ही यह मान लिया कि संसार एक कार्य है। नैयायिक जैन धर्म के इस आक्षेप का यथोचित उत्तर न दे पाये। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से जैन धर्म में ईश्वर का खण्डन हुआ है फिर भी व्यावहारिक रूप में जैन धर्म में ईश्वर का विचार किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है।

जैन धर्म में ईश्वर के स्थान पर तीर्थकरों को माना गया है जो मुक्त हैं। इसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन। अनन्त वीर्य तथा अनन्त आनन्द निहित है। जैन योग महात्माओं तथा अपने तीर्थकरों की मूर्तियां बनाकर

भी पूजा करते हैं। पूजा, प्रार्थना, धर्म, श्रद्धा तथा भक्ति में जैनियों की पर्याप्त विश्वास है। इस प्रकार में ईश्वर की सत्ता नकारते हुए भी तीर्थकरों को ईश्वर के रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि उनका मानना है कि तीर्थकरों द्वारा बताये गये मार्ग पर चलकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

19.5 मानवतावादी धर्म के विचार

अनीश्वरवादी धर्मों के अन्तर्गत मानवीय धर्म या मानवतावादी धर्म को भी सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार की धार्मिक विचार धारा— का समर्थन करने वाले पश्चिमी विचारकों में काम्ते तथा भारतीय विचारक रविन्द्रनाथ ठाकुर तथा विवेकानन्द प्रमुख हैं। टैगोर की मान्यता है कि मानव ससीम तथा असीम की समष्टि है। शारीरिक दृष्टि से मानव ससीम है परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से असीम है। इस प्रकार के धर्म में मानवता की पूजा की जाती है। काम्ते के अनुसार धर्म का केन्द्र विंदु मानव है तथा धर्म का इतिहास मानव के विकास का इतिहास है। मानव का अस्तित्व असन्दिग्ध है। इस प्रकार मानव को आराधना का विषय मानने से धर्म के पहलुओं की पुष्टि हो जाती है। मानव के साथ मानव धार्मिक सम्बन्ध स्थापित करने में कठिनाई की अनुभूति नहीं करता है। काम्ते ने कहा है कि यह ऐसा धर्म है जो कला के सौन्दर्य से ओत-प्रोत है तथा विज्ञान के साथ असंगत नहीं है। मानव धर्म में मानव को ही पूजा होती है न कि किसी पारलौकिक सत्ता की प्रो० हिंगल पैतीसन ने 'Idea of God' में कहा है कि मानव की पूजा को स्वीकार कर लेने से ईश्वर की सत्ता का खण्डन हो जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त उद्धृत तीनों धर्म— बौद्ध धर्म जैन धर्म तथा मानव धर्म ईश्वर विहीन धर्म हैं क्योंकि इन तीनों में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन तीनों धर्मों को किन आधारों पर धर्म के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हम कह सकते हैं कि उन्हें धर्म की संज्ञा इसलिए दी जाती है क्योंकि इन धर्मों का मूल्यों से अनियोज्य सम्बन्ध है। हाफडिंग महोदय ने धर्म को पारिभाषित करते हुए कहा है कि धर्म मूल्यों की संरक्षा में विश्वास है अर्थात् धर्म समस्त मानवीय तथा सामाजिक मूल्यों की रक्षा करता है तथा उनको पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित करता है।

19.6 समीक्षा

1. इस प्रकार ईश्वर विहीन धर्म स्वयं ईश्वर से पृथक् करने का दावा करते हैं किन्तु विचारणीय है कि बिना ईश्वर के धर्म सम्भव है? यहाँ गहनता से धर्मों का मूल्यांकन करने से दृष्टत्य होता है कि प्रत्येक ईश्वर विहीन धर्म में किसी न किसी प्रकार से ईश्वर या इसके सादृश्य सर्वशक्तिमान सत्ता की कल्पना की गयी है, जिसका कारण मनुष्य की आपूर्णता तथा सीमितता है जब मनुष्य सांसारिक संघर्षों, आपदाओं अथवा दुखों से घबरा जाता है तब वह ईश्वर या ईश्वर तुल्य सत्ता की अपेक्षा करता है।
2. धर्म के ज्ञानात्मक, क्रियात्मक एवं संवेज्ञात्मक पक्ष की संतुष्टि हेतु ईश्वर जैसी सत्ता अनिवार्य है धार्मिक आस्था के स्वरूप की विशिष्टता बताती है कि इसकी उत्पत्ति सामान्य सांसारिक वस्तुओं में नहीं हो सकती है यह आस्था अलौकिक आदर्शों व तत्त्वों में ही उत्पन्न होती है। धर्म में भावनात्मक निर्भरता, अलौकिकता द्वारा ही सम्भव है जिससे उपासक, भावनात्मक रूप से उपास्य से सम्बन्ध बनाता है। पुनः मनुष्य की संवेगात्मक संतुष्टि केवल व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर द्वारा सम्भव होती है जिसका प्रमाण यह है कि विश्व के अधिकतर लोक— प्रिय धर्म का केन्द्रीय तत्व ईश्वर है।
3. यदि हम निरीश्वरवादी धर्मों पर विचार करें तो बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों ने बुद्ध को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया जबकि हीनयान धर्म अनीश्वरवादी होने के कारण लोकप्रिय नहीं हो सका। जैन धर्म में आचार्य, मुनि, अरिहंत, उपाध्याय एवं साधु पंच परमेष्ठी हैं जोकि ईश्वर के समान महत्व रखते हैं। मानववाद का धर्म के रूप में प्रचलित न होना यह सिद्ध करता है कि धर्म में ईश्वर का स्थान

सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

19.7 सारांश

वस्तुतः धर्म को कुछ मूल्यों तक सीमित करके व्यवस्थित नहीं कर सकते यद्यपि धर्म का आदर्श केवल काल्पनिक या सम्भाव्यशक्ति नहीं बल्कि वास्तविक या अनिवार्य मूल्य अपना आदर्श है फिर भी गैल्वे के इस मत से असहमत होना कठिन है कि धर्म मानव द्वारा किसी न किसी परम शक्ति में विश्वास है जिसके द्वारा वह अपनी भावनात्मक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तथा जीवन में स्थिरता प्राप्ति की चेष्टा करता है। इस तरह ईश्वर विहीन धर्म में भी मनुष्य के आन्तरिक जीवन को आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक परम शक्ति की मान्यता को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि जहाँ तक धर्म के स्वरूप का सम्बन्ध है, सैध्दांतिक रूप से विश्व में अनेक ईश्वर विहीन धर्म अस्तित्व में रहें हैं किन्तु जहाँ तक धर्म के व्यावहारिक पक्ष का प्रश्न है अधिकतर धर्मों ने किसी न किसी रूप में पारलौकिक या आध्यात्मिक ईश्वर सादृश्य सत्ता के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

19.8 बोध —प्रश्न

1. ईश्वर विहीन धर्म की संभावनाओं की विवेचना कीजिए।
2. कुछ प्रमुख ईश्वर विहीन प्रचलित धर्म का उल्लेख करिए एवं समाज में उनकी स्वीकार्यता की संभावनाओं का परीक्षण कीजिए।

19.9 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन धर्म दर्शन — डॉ याकूब मसीह।
2. धर्म दर्शन की मूल समस्याएं— डॉ वेद प्रकाश वर्मा।
3. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन— डॉ शिव भानु सिंह।